

मूल्य : पच्चीस रुपये (25.00)

प्रथम संस्करण 1981, © नरेन्द्र कोहली  
ABHIJANAN (Novel), by Narendra Kolhi

# अभिज्ञान

नरेन्द्र कोहली

*Surya Prakashan Mandir*  
गुप्तवर्ष से आ-दि-पुष्प  
K A N B R



राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली



गुरुवर मेजर चंद्रभूषण सिन्हा  
के लिए सादर—



"इस बार बहुत दिनों पर चक्कर लगा बाबा।" सुदामा ने बाबा का भोला एक सूटी पर टांग दिया।  
सुशीला ने तिनको का बना आसन मूमि पर बिछा दिया, "बैठिए बाबा।"

बाबा ने सुदामा को कोई उत्तर नहीं दिया। आसन पर बैठकर पहले तो सास को नियंत्रित-सा करते रहे और फिर सुशीला की ओर उन्मुख होकर बोले, "कैसी हो बेटी?"

सुशीला मुस्कराई, "हम कैसे होंगे बाबा। जैसे आप छोड़ गए थे, वैसे ही हैं। नहीं हैं। यहा कुछ भी घटित नहीं होता : न अच्छा, न बुरा। हमारा संसार तो अबल है न। आप सुनाइए, कैसे हैं?"

बाबा हंस पडे, "तेरा-मेरा सोचना विपरीत दिशा मे चलता है बिटिया। तुम सोचती होगी कि जो कुछ घटित होता है, बाहर ही होता है। घर मे कुछ भी नहीं घटता। घरो मे व्यवस्थापूर्वक रहने वालो के जीवन में कोई विशेष आरोह-अवरोह नहीं है। उनका कुशल-मंगल एकरस ही रहता है।..."

"हां बाबा।"

"और जो मुझ जैसे घुमक्कट लोग हैं, बाहर ही बाहर रहते हैं। घटनाओं के साथ वे ही चलते हैं। उनके कुशल की सूचना मिलनी ही चाहिए। वे किसी दुर्घटना के साथ न हो जाएं या उनके साथ कही कोई दुर्घटना न हो जाए..."। बाबा हंस पड़े।

"अब बाबा का शब्दों के साथ खिलवाड़ और मूर्खी बढ गया है।"  
सुदामा धीरे-से बोले।

“शब्दों का खिलवाड़ ही सही, पर बात तो ठीक कह रहे हैं बाबा।” सुशीला ने सुदामा का प्रतिवाद किया।

“और मैं सोंचता हूँ विटिया,” बाबा उन दोनों के विवाद से निरपेक्ष अपनी बात कहते गए, “जब तक ठीक है, चल रहे हैं, जब ढीले हुए, रुक गए। मेरे साथ गृहस्थी का दायित्व तो है नहीं। तुम लोग गृहस्थ हो। हजार प्रकार के दायित्व है। बच्चे है...अरे, तुम्हारे बच्चे कहां हैं?” बाबा रुक गए।

“यहीं कहीं खेल रहे होंगे।” सुशीला बोली, “मैं अभी दूढ़ कर लाती हूँ।”

सुशीला कुटिया से बाहर चली गई।

बाबा ने सुदामा की ओर देखा, “तुम कैसे हो? पहले से भी दुबले हो गए हो। श्रम अधिक कर रहे हो, या यह चिताओं का सुफल है? तुम्हारा मित्र कृष्ण कहता है न कि कर्म का फल अवश्य मिलता है।” बाबा के स्वर में हल्की-सी उत्तेजना थी, “चिता भी तो एक कर्म ही है...।”

सुदामा हंस पड़े, “अपना क्या है बाबा। न सावन हरे न भादों सूखे। मोटा ही कब था, कि दुबला होऊंगा। और कृष्ण...।”

“काम अधिक कर रहे हो?” बाबा ने बात काट दी।

“काम का क्या कहूँ।” सुदामा का स्वर एकदम ठंडा था, “काम तो करता ही रहता हूँ। उसे कम और अधिक कर, तो कभी नापा नहीं।”

“तुम्हारे श्रम का फल तुम्हें मिलना आरंभ हो गया है।” बाबा स्निग्ध दृष्टि से सुदामा की ओर देखते हुए बोले। उनकी उत्तेजना जिस आकस्मिकता से भाई थी, उसी आकस्मिकता से विलीन भी हो गई थी; “मैंने श्वर-उधर घूमते-घामते, कुछ विद्वानों के बीच, तुम्हारे नाम की चर्चा सुनी है।”

“किन विद्वानों के बीच?” सुदामा उत्सुक हो उठे।

बाबा हंस पड़े, “किनके बीच होगी भाई। राज-दरवारों में तुम्हारी चर्चा होगी या आचार्य-कुलो में! ...कुछ नये वय के बुद्धिजीवियों, चित्तकों-विचारकों में ही चर्चा सुनी है। वह भी उनमें, जो ईर्ष्या, घृणा और हताशा की आप में जल-जलकर हतबुद्धि नहीं हो गए हैं, जो प्रथियों से मुक्त हैं,

प्रत्येक बुद्धिजीवी को अपना प्रतिस्पर्धी नहीं मानते, प्रत्येक उदीयमान दार्शनिक से द्वेष नहीं करते...।”

सुदामा का उत्साह मंद पड़ गया। व्यर्थ ही पूछने की उत्सुकता दिखाई। क्या वे नहीं जानते कि विद्वत्-मंडली का स्वभाव क्या है। और जब उन्होंने निर्णय कर ही लिया है कि अपने मार्ग पर वे अपनी योग्यता और श्रम के भरोसे ही अग्रसर होंगे; आगे बढ़ने के लिए वे किसी भी इतर क्षेत्र की बैसाखी लगाना नहीं चाहते हैं...तो फिर वे कैसे आशा करते हैं कि दो-चार छोटी-छोटी पुस्तकों, कुछ निबंधों और कुछ व्याख्यानों के आधार पर, इतनी कम वय में ही उन्हें इतना योग्य मान लिया जाएगा कि विद्वान् लोग अपने वार्तालाप में उनकी चर्चा करने लगेंगे। और जो कुछ उन्होंने लिखा भी है, उसका प्रसार-प्रचार कहां हो पाया है? उनके पास इतने साधन ही कहां हैं कि वे अपने ग्रंथों की प्रतिलिपियां तैयार करवा उन्हें विद्वानों के अबलोकनार्थ भिजवाएं। न उनका कोई ऐसा समर्थ सहायक है, जो लेखनी-श्रमिकों को पारिश्रमिक देकर प्रतिलिपियां करवा दे। स्वयं सुदामा के पास नया लिखने और कहने की इतना अधिक है कि वे अपने पुराने लिखे की दोहराने तक का समय नहीं निकाल पाते...उनकी प्रतिलिपियां तैयार करने की कौन कहे...उनका प्रसार तो पाठको के प्रेम के आधार पर ही होगा...हा। यही कार्य किसी साधन-समर्थ व्यक्ति ने किया होता, या साधन-सम्पत्तियों की सहायता से किया गया होता तो अब तक उन कृतियों की डोंडी पिटे चुकी होती...

“इस बार आपका चक्कर बहुत दिनों में लगा बाबा।” सुदामा ने सहसा जैसे अपनी नीद से जाग कर कहा।

पर बाबा भी शायद अपनी बात के बाद किसी नीद में खो गए थे। उन्होंने इस बार भी सुदामा की बात का उत्तर नहीं दिया। बोले, “तूने बड़ा कठिन मार्ग चुना है सुदामा। ज्ञान-क्षेत्र बड़ा कठिन क्षेत्र है भाई। जब बुढ़ापे के मारे सिर हिलने लगता है, आंखों से सूझता नहीं, कान ऊंचा सुनने लगते हैं; मुंह में जो दात बच रहते हैं; वे सुविधा के लिए कम, पीड़ा के लिए अधिक होते हैं...ऐसी स्थिति में कहीं लोग, बड़े दरे-उरे कहते हैं



कि हां ! वह भी थोड़ा-थोड़ा कुछ सोचता है । उदीयमान विद्वान् है...हा-हा-हा ।" बाबा एक हथेली पर दूसरी हथेली पटक कर हंसे, "जब यम सिर पर नाच रहा हो, तब वह उदीयमान विद्वान् होता है । भाई ! तुमने गुरु सादीपनि मे दर्शनशास्त्र ही क्यों पढा ? कृष्ण के समान शस्त्र-संवादन क्यों नहीं सीखा ?"

सुदामा जैसे किसी स्वप्न मे सो गए...अवन्ती में गुरु सादीपनि का धात्रम...कृष्ण, बलराम और उद्धव भी ये वहां । वे लोग शस्त्र भी सीखते थे और वेद भी पढते थे; पर सुदामा ने कभी शस्त्रशाला की ओर पग ही नहीं बढ़ाए । विचित्र स्थिति थी...यद्यपि युद्ध क्षत्रियों का कार्य था, फिर भी शस्त्र-विज्ञान के सभी आचार्य ब्राह्मण थे...परशुराम, द्रोणाचार्य, सादीपनि...

"क्यों नहीं सीखा ?" बाबा ने फिर से पूछा ।

"क्या कहूं !" सुदामा स्वयं ही नहीं जानते थे, "मैं उन विचारियों में से नहीं था, जो यह सोचते है कि किस विषय का अध्ययन करने से वे लाभ मे रहेंगे । मैंने तो वही सीखा, जो मुझे सीखना था...जिसमे मेरी गति थी, या जिसकी पृष्ठभूमि मेरे पास थी । सामगान में मैं अपनी टोली मे सबसे आगे था ।"

सुदामा की आंखों के सामने कुछ पुराने दृश्य धूम गए...अनेक विषयों और क्षेत्रों में कृष्ण, सुदामा से ही नहीं, सबसे आगे था । उसकी गति किसी एक विषय में नहीं, प्रायः प्रत्येक विषय में थी ।...कितु वेदों के प्राचीन पाठ समझने मे कृष्ण को कही-कही कठिनाई होती थी । कृष्ण निःसकोच सुदामा के पास आ बैठता था और सुदामा उसे कुछ बातें बता दिया करते थे । सुदामा के परिवार मे, कई पीढ़ियों से वेद पढे जा रहे थे, उनपर चिंतन और मनन किया जा रहा था । सुदामा, वेदों के प्राचीन पाठों के अर्थों को समझते और याद रखते थे । यह विषय जैसे उनके रक्त मे था । उसके लिए उन्हें अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता था...पर कृष्ण की मानसिकता कुछ और ही थी । या तो वह उन पाठों और अर्थों को समझ नहीं पाता था और या फिर उनसे तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता था । वह उन प्राचीन पाठों में भी नये अर्थ खोजता था...और आज उसी

कृष्ण की चर्चा ऐसे होती है, जैसे वह कोई महामानव ही...कुल चौंसठ दिन गुरु के पास रहा और गुरु का पट्ट-शिष्य बन गया।...गुरु का अपहृत पुत्र जो लौटा लाया..."

"अच्छा होता, तूने भी क्षात्र धर्म अपनाया होता।" बाबा कह रहे थे, "यादव सेनाओं के साथ युद्धों में गया होता। किसी युद्ध में शरीर पर एक-आध घाव खाया होता। कुछ थोड़े-से शत्रुओं का वध किया होता। तब तुम्हें भी वीर की पदवी भरी जवानी में मिली होती। कोई पद भी मिलता और धन भी। तब तू न इस प्रकार अख्यात रहता और न धन के अभाव में पीड़ित होता।"

"धन का अभाव मुझे अवश्य है बाबा!" सुदामा बोले, "पर वह मेरा लक्ष्य ही नहीं है, तो उसके अभाव में मैं पीड़ित क्यों हूँगा...।"

"ठीक कहता है तू," बाबा का स्वर उदास था, "पर प्रत्येक गृहस्थ को धन की आवश्यकता तो होती ही है। तुम्हें धन नहीं चाहिए, क्योंकि तूने जीवन को देखने की एक ऐसी दृष्टि पाई है, जिसमें धन का...आवश्यकता भर धन का भी कोई महत्व नहीं है। पर तेरी पत्नी! तेरे बच्चे। उन्होंने क्या अपराध किया है कि उन्हें वे सुविधाएँ भी न मिलें...जो प्रत्येक घर में पत्नी और बच्चों को मिलती है?..."

"अपराध का प्रश्न कहा है बाबा!" सुदामा का स्वर गंभीर था, "जब मेरे साथ संबंध है, तो मेरे अच्छे-बुरे को उन्हें भी भुगतना ही होगा। मेरे जीवन में यदि कोई उपलब्धि हुई...धन की बात नहीं कर रहा हूँ; वैचारिक उपलब्धि, ख्याति या ऐसी ही कोई अभौतिक वस्तु...तो उसका लाभ वे पाएँगे या नहीं? ऐसे में मेरे जीवन के अभावों में भी तो उनकी सहभागिता होगी ही।...और फिर सुदामा तो जीवन को भौतिक धरा-तल पर जीता ही नहीं है। कीचड़ में बिलबिलाते एक कीड़े और स्वच्छ वामुमंडल में जीने वाले एक जीव में कोई अंतर तो होगा बाबा!"

"तुमसे असहमत नहीं हूँ।" बाबा बोले, "विवेकपूर्ण स्वच्छ जीवन जीने का पक्षपाती मैं भी हूँ। इसीलिए तो गृहस्थों के बंधन मुझे बांध नहीं पाए। अपने परिवार के साथ रहना तो दूर, टिककर कहीं एक स्थान पर ही नहीं रह सका...पर जब तेरी पत्नी और बच्चों को जीवन की

आवश्यकताओं के अभावों की असुविधा भेलते देखता हूँ तो मुझे कष्ट होता है। तू कोई दूसरा काम क्यों नहीं करता, जिससे कुछ धन अर्जित कर सके? ...”

“यह मेरा स्वधर्म नहीं है बाबा।” मुदामा का स्वर पूर्णतः आश्वस्त था, “मेरा सखा कृष्ण कहा करता था कि स्वधर्म के अनुसार जीना ही श्रेष्ठ है। दायद इसीलिए मैंने दास्त्र-विद्या नहीं सीखी, केवल दर्शनशास्त्र पढा। ... कृष्ण की बात तो है ही, पर अब तो मैं स्वयं ही अनुभव करने लगा हूँ कि स्वधर्म में जीना असुविधाजनक हो सकता है, पर यह कष्ट-दायक नहीं है। असुविधा कोई सत्य तो है नहीं, एक अनुभूति ही तो है। मेरी प्रकृति, मेरा स्वधर्म धनार्जन नहीं है। मैं अपनी अन्तःप्रेरणा से कार्य करता हूँ। उस काम में रस पाता हूँ। मुझे अपनी सार्थकता का बोध होता है। धनार्जन मेरा लक्ष्य हो जाए तो भौतिक असुविधाएँ कदाचित् समाप्त हो जाएँ, पर इनसे मेरे कष्ट बढ़ जाएंगे।”

“समझता हूँ।” बाबा का स्वर स्नेह से छलछलाया हुआ था, “मुझसे अधिक कौन समझेगा। मेरी अन्तःप्रेरणा मुझे धक्के मार-मार कर चलाती रही। एक स्थान पर टिककर रहना मेरी प्रकृति नहीं है। मेरा स्वधर्म, मेरी प्रकृति तो गति है, प्रवाह... चलते रहना। इससे मेरे परिवार को असुविधा-नहीं होती क्या? बहुत होती है। वे चाहते हैं कि मैं टिककर उनके साथ रहूँ। पर यदि मैं उनके साथ रहा, मेरी गति रुक गई तो मेरा दम घुट जाएगा...।”

सुशीला ने बच्चों के साथ कुटिया में प्रवेश किया।

“बाबा को प्रणाम करो।”

बाबा ने बच्चों पर दृष्टि डाली : दो दुबले-पतले लड़के उनके सामने खड़े थे। बड़ा विवेक, कोई बारह-तेरह वर्षों का था। शरीर पर घुटनों से ऊपर तक की एक स्वच्छ धोती थी, उसे लंगोटी का विस्तृत रूप कहा जा सकता था। शेष शरीर नंगा था। उसकी पसलियाँ सुविधा से गिनी जा सकती थीं। घुटनों की गाँठें टाँगों में से अलग दिखाई पड़ रही थीं। ज्ञान, सात-आठ वर्ष का रहा होगा। शरीर का गठन उसका भी वैसा ही था।

पर अभी उसके शरीर का मास कुछ कोमल था। वय के साथ उसका शरीर बड़ेगा और पौष्टिक आहार नहीं मिलेगा तो उसकी भी वही स्थिति होगी।  
बाबा ने दोनों को अपनी बांहों में घेरकर अपने निकट खींच लिया,  
“मुझे पहचानते हो ?”

“आप हमारे बाबा हैं।” विवेक ने भीरु स्वर में कहा।  
“हा ! तुम्हारे बाबा और मैं मित्र थे, इसलिए मैं तुम्हारा बाबा हूँ।”  
बाबा हसे, “अच्छा, यह बताओ, तुम दोनों अधिक खेलते हो या अधिक पढ़ते हो ?”

“दोनों खिलंदे हैं।” सुदामा बोले, “अध्ययन में, दोनों में से किसी की भी रुचि नहीं है। मेरे पिता का ज्ञान आश्रम भर में फैला था, मेरा एक कुटिया तक सीमित रह गया है। इनके समय तक शायद वह एक भोले में ममाने योग्य ही रह जाए।”

“कितना पढ़ेंगे अभी से।” सुशीला ने सुदामा की बात काट कर, बाबा की ओर देखा, “ये तो चाहते हैं कि बच्चे अभी से इन्हींके समान, इन्हींके बराबर अध्ययन करें।”  
“मेरे बराबर न करें।” सुदामा बोले, “पर उनकी प्रवृत्ति तो दिखाई पड़े।”

“प्रवृत्ति और कैसे दिखाई पड़ेगी।” सुशीला के स्वर में रोप था,  
“उनका खेल भी ताल-पत्रों के ग्रंथ बनाने तक ही सीमित है।”

“नहीं। यह उचित नहीं है।” बाबा स्नेह भरे स्वर में बोले, “बच्चों का स्वस्थ शारीरिक विकास बहुत आवश्यक है। उन्हें खेल का पूरा समय मिलना चाहिए और पौष्टिक भोजन भी...।”

“स्वस्थ तो है बाबा !” सुदामा टालते-से बोले, “दिन भर भागते-दौड़ते हैं। पतले हो सकते हैं, पर दुबले नहीं हैं। खड़े-खड़े चक्कर नहीं खा जाते और चलते-चलते गिर नहीं पड़ते...।”

“आप उसीकी प्रतीक्षा में हैं क्या ?” सुशीला की आखें गीली हो गईं, “यदि आज तक ऐसा नहीं हुआ तो भगवान की कृपा के कारण; अन्यथा कौन नहीं जानता कि इन बच्चों को पौष्टिक भोजन तो दूर, दोनों समय भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता।...”

बाबा ने प्यार से दोनों बच्चों की पीठ पर हाथ फेरा, "तुम लोग जाओ पुत्र । अपने मित्रों के साथ खेलो ।"

"खेल कर आएंगे तो आप हमें कहानी सुनाएंगे ना बाबा ?" ज्ञान पहली बार बोला ।

"क्यों नहीं सुनाऊंगा । अवश्य सुनाऊंगा ।"

"पिछली बार के समान पिताजी से ही बातें करने में लीन तो नहीं रहेंगे न ।" ज्ञान भोली घृष्टता के साथ बोला ।

"चल भाग ।" सुदामा ने प्यार-भरे स्वर में डांटा ।

बाबा जोर से हंस पड़े, "तुम्हें अब तक याद है रे । तू बड़ा दुष्ट है, फिर तो । मैं तो समझता था कि तू मुझे पहचानता भी नहीं होगा, और तू उन घटनाओं को भी याद रखे हुए है ।" बाबा हंसते चले गए, "सुदामा ! तेरा बड़ा बेटा तो कुछ बोलता ही नहीं । पता नहीं गंभीर है या चुप्पा है । देख ! छोटा मुझे भी लगा गया । यह बड़ा होकर बड़े-बड़ों को शास्त्रार्थ में पराजित करेगा रे ।"

बाबा ने फिर से बच्चों के सिर पर हाथ फेरा ।

बच्चे बाहर चले गए तो कुटिया में चुप्पी छा गई । शायद किसीकी भी समझ में नहीं आ रहा था कि बात कहां से आरंभ की जाए ।

अंततः बाबा ही बोले, "बहू ! क्या सचमुच स्थिति इतनी खराब है ?"

सुशीला ने प्रयत्नपूर्वक, मुस्कान से अपने चेहरे को उदासी धो डाली । "कहा खराब है बाबा । आप तो सचमुच ही चिंतित हो उठे । मैंने तो यूँ ही कहा था..."

"अब तुमने गृहिणी का रूप धारण कर लिया है बिटिया," बाबा हंसते पड़े, "और गृहिणी अन्नपूर्णा होती है ! पर बहू । बच्चों को भरपूर भोजन का न मिलना...और मैं ठहरा तुम्हारा अतिथि । बोझ बढ़ाने वाला..."

"नहीं बाबा ! नहीं ।" सुशीला बोली, "आप ऐसा कुछ मत सोचिए । कभी-कभी वैसा संयोग भी हो जाता है; पर आज कोई कमी नहीं है । आप स्वयं देख लेंगे ।"

"आप चिंता न करें बाबा ।" इस बार सुदामा उत्साह से बोले । उन्होंने

सुशीला के चेहरे की मुस्कान से समझ लिया था कि आज घर में भोजन की कमी नहीं है, "आपने बताया नहीं कि इस बार कहा-कहा से घूमकर आ रहे है ?"

बाबा ने क्षण भर सोचा। शायद उन्हें भी यही ठीक जंचा कि वे विषय बदल दें। बोले, "इस बार द्वारका चला गया था। वही टिक गया। काफी समय वही लग गया।"

"द्वारका!" सुदामा के मुख से अनायास निकला, "कृष्ण की नगरी!"

"हां। तुम्हारे कृष्ण की नगरी।" बाबा मुस्कराए, "धनाढ्य नगरी थी भई। बड़े-बड़े महानय, ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं, चौड़े-चौड़े राजपथ, उद्यान-उपवन, सजे घजे मनुष्य, रथ, हाथी, घोड़े - लगता था, नगर नहीं है, कोई मेला है—जहा हास और विलास के सिवाय और कुछ नहीं है।"

"बाबा! आप भूतकाल में बोन रहे हैं।" सुदामा बोले, "क्या अब द्वारका वैसी नहीं रही?"

"शाल्व के आक्रमण के बाद वैसी नहीं रही।" बाबा धीरे से बोले, 'वैना नृशस आक्रमणकारी और कोई बया होगा। सागर तट के ग्राम के ग्राम उसने जला डाले। उद्यान उजाड़ डाले। न बच्चों को क्षमा किया, न स्त्रियोंको, न धरत्रहीन नागरिकों को। पशुओं तकको उसने नहीं छोड़ा। यादवों का सारा जीवन अस्त-व्यस्त कर डाला, द्वारका के अनेक सुन्दर भवन जला डाले।" वावा क्षण भर रुके, "यादवों की जो दुर्गति जरासंध नहीं कर पाया था, वह शाल्व ने कर डाली।"

"यह शाल्व कौन है बाबा?" सुशीला ने पूछा।

"तो तुम लोगों तक द्वारका की दुखद कहानी नहीं पहुंची?" बाबा ने आश्चर्य से पूछा।

"कुछ हल्का-सा समाचार मिला तो था," सुदामा धीरे-से बोले, "पर विस्तार से मानूँ नहीं हो सका।"

"ओह!" बाबा धून्य में घूर रहे थे, जैसे उन दृश्यों और घटनाओं को प्रत्यक्ष देख रहे हों।

"कृष्ण ने उन्हें रोका नहीं?" फिर सुशीला ने ही पूछा।

"बाबा बोले, "वह द्वारका में रहता ही है।"

कितनी देर है। उसका सारा ध्यान तो आर्यावर्त की घटनाओं में ही लगा रहता है।”

“कृष्ण भी आप ही के समान घुमक्कड़ हैं क्या ?”

बाबा हंस पड़े, “नहीं बिटिया ! वह घुमक्कड़ नहीं है, पर वह बहुत सारे स्थानों पर, बहुत सारी घटनाओं में उलझा रहता है। अब देखो,” उन्होंने हककर सुशीला को देखा, “मथुरा से सारे यादवों को सुरक्षित निकाल वह द्वारका ले गया। जरासंध-इधर टापता रह गया और काल्यवन को उसने मार डाला। इससे हुआ यह कि जरासंध और उसके साथी कृष्ण से इतने घृष्ट हुए कि उन्होंने स्वयं को संघबद्ध करना आरंभ कर दिया। फिर कृष्ण उन्हें अगूठा दिखा, जरासंध, स्वामी और शिशुपाल के बीच में से शक्तिपत्ती को हर लाया।” बाबा तनिक-सा हककर, फिर बोले, “कृष्ण की जब यह सूचना मिली कि पांचों पांडव वारणावत में जलकर मरे नहीं हैं तो वह उनकी खोज में निकल गया। उद्धव ने उसे सूचना दी कि वे लोग वन में छिपे हुए हैं और भीम-वृकोदर के रूप में हिडिम्बा का पति और-राक्षसों का राजा बना बैठा है। कृष्ण ने उनसे संपर्क किया और उन्हें पांचाल की राजधानी कापिल्य में, द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर प्रकट किया। वहां भी जरासंध और उसके साथियों की हार हुई। इंद्रप्रस्थ के निर्माण के पश्चात् पांडव और पाञ्चाल कृष्ण के सत्कृत सहयोगी हो गए थे।...” बाबा कुछ रके, “मैं जब पहली बार द्वारका गया था, तब कृष्ण इंद्रप्रस्थ का निर्माण करा, मुधिष्ठिर का राज्याभिषेक कर द्वारका लौटा था। कृष्ण के काफी समय तक द्वारका से दूर रहने के कारण, द्वारका के यादव पर्याप्त शिथिल हो गए थे। उनमें भोग की प्रवृत्ति बढ गई थी। कृष्ण के विरोधी सत्राजित और उसके माधियों ने अपनी दक्षिणकाफी बढ़ा ली थी। स्वयंसेवक भणिवाली घटना तभी घटी थी। कृष्ण ने अपने प्राणों पर खेलकर स्वयंसेवक भणि लौटाई थी और सरयुभामा तथा जाम्बवती से विवाह किया था। पर फिर भी कृष्ण द्वारका में कहां टिक पाया। उसे पांडवों के राजसूय-यज्ञ में इंद्रप्रस्थ जाना पड़ा। उसी में उसने जरासंध का भीम से वध करवाया और शिशुपाल को अपने हाथों मारा। वह इंद्रप्रस्थ में था और इधर शिशुपाल के मित्र शात्व ने द्वारका पर आक्रमण कर दिया।”

“यादव सेनाओं ने उसे रोका नहीं?” सुशीला के चेहरे पर भोली जिज्ञासा थी।

“वया सुदामा ये सारी सूचनाएँ तुम्हें नहीं देता?” बाबा ने आश्चर्य से पूछा।

“मुझे सब कुछ स्वयं ही ज्ञात नहीं होता।” सुदामा एक फीकी हंसी हंसे, “कुछ अपनी पुस्तकों में डूबा रहता हूँ। कुछ, इधर लोगों का आवा-गमन ही कम है; और फिर मेरे जैसा व्यावहारिक जीवन में असफल व्यक्ति, अपने सफल साथियों की कितनी खोज-खबर रख सकता है।”

बाबा सुदामा को देखते रहे। फिर बोले, “तुम्हारी यह ईर्ष्या तो अच्छी नहीं है सुदामा।”

“मैं कोई जान-बूझ कर करता हूँ।” सुदामा खिन्निदाए-से बोले, “जब कृष्ण की इन सारी सफलताओं के विषय में सूनता हूँ तो कभी प्रसन्नता होती है और कभी अपने अभावों के घाव खुल जाते हैं।”

“यादव सेनाओं ने शाल्व को रोका नहीं बाबा।” सुशीला ने अपना प्रश्न दुहरा दिया।

“रोका बेटी, रोका। कृष्ण के बेटे और साथी भरसक लड़े। एक प्रकार से उन्होंने उसे पीछे हटने को बाध्य कर दिया था। तब तक कृष्ण भी लौट आया था। पर सौराष्ट्र की क्षति तो हो ही चुकी थी। मैंने दूसरी बार द्वारका तब ही देखी थी। तुम कभी द्वारका गए हो?”

“नहीं! अभी तक तो नहीं गया।” सुदामा धीरे से बोले।

बाबा जैसे अपनी कल्पना में द्वारका में ही जा खड़े हुए थे, “प्रकृति ने बड़े सुन्दर सागरतट दिए हैं द्वारका को। पर यादवों ने उन तटों पर अपने भवनों और उद्यानों से उन्हें और भी सुन्दर बना दिया है। कुन्तुद्मीन के समय द्वारका एक साफ-सुथरा-सा कस्बा थी। पण्यजन राक्षसों के समय द्वारका एक उजड़ा हुआ सागरतट मात्र थी, जहाँ घन-सोचुप व्यागरी और उनके रक्षक बर्बर सैनिकों का जमघट था। और...और...” बाबा कुछ रुककर बोले, “शाल्व के आने से पहले, द्वारका एक नगरी थी, मनुष्य द्वारा निर्मित और संवरी हुई नगरी।...अब जनसंख्या भी कितनी बढ़ गई है।” सहसा बाबा ने रुककर सुदामा की ओर देखा, “तुम्हारे ग्राम की जन-



संत्या एकदम बढी हुई नहीं लगती, मुदामा ! द्वारका में लोग हैं और भूमि  
नहीं है। यहां इतनी भूमि पड़ी हुई है और कोई उसे घेरता नहीं। ...”

“यहां जनसंख्या क्या बढेगी या  
थी, “यहां तो जो लोग थे, वे भी  
पास के छोटे-बड़े नगरों में बसते जा  
रहे हैं।”

“पर क्यों ?”

“काम-धंधा वहां है यहां।”  
साधन हो तो यहां के लोग सपन्न  
बसेंगे। तब गुदामा की कुटिया के अ  
यह सारी भूमि घिर जाएगी, विक्रि जा  
एधी...।”

“तुम यह सब कुछ समझते हो मु  
दामा ! तो कुछ करते क्यों नहीं ?”

“समझत तो बहुत लोग हैं,  
रकरना तो सबके बस का नहीं  
ते, “साधारण आदमी के सोचने-

होता।” सुदामा अनामकत भाव से य  
ध में सत्ता होती है, वे समझने लगते

समझने से क्या होता है। जिनके हा  
द्वारका और उसके आसपास मबुरा  
हैं तो निर्माण होने लगता है। मुना है,  
द्वार खेत बनाए हैं। गोवंश को

के मादव बस गए हैं। उन्होंने वन का  
गाए हैं। जलपोत बनाए हैं। व्यापार  
बढाया है। घोड़े पाले हैं। भवन ब  
काम मिलता है और काम के साथ

बढाया है। लोग वहां जाते हैं तो उन्हे  
ली, “हम लोग यहां सोचते ही रह  
धन मिलता है।” सुदामा ने गहरी सांस  
मोटे दुकानदार। आठ-दस घर हम

जाते हैं। ...कुछ किसान हैं, कुछ छोटे-  
हैं और न अन्तेवासी ब्रह्मचारी।  
उपाध्यायो के हैं, पर न तो कोई गुरुकुल  
द्वारका के चक्कर काट रहा है।

...मेरा एक पडोसी है, भृगुदास। बेचार  
भी बताया नहीं। पर शायद वह

मैंने उससे कभी पूछा नहीं। उसने भी क  
लोग भी हैं, जो पास की तगरियों

वहां कोई संपर्क खोज रहा है। कुछ और  
वहां रह नहीं सकते। आंबास की

मे छोटी-मोटी चाकरिया करते हैं।  
होकर यहां रह रहे हैं...।”  
सुविधा नहीं है, या फिर महंगी है। वाघ्य  
ही रहे। लगा, वातावरण में एक  
सुदामा चुप हो गए। बाबा भी चुप  
विवाद-सा घुल गया है।

“आप द्वारका में कहां टिके बाबा ?” सुशीला की सहज उत्सुकता

ने मौन तोड़ा ।

“द्वारका में कहां टिकता वेटी !” बाबा ने हंसकर विपाद को काटने का प्रयत्न किया, “धनाढ्यो की नगरी है, वहां मुझे कौन पहचानता है ! यदि कोई पहचानता भी और मुझे अपने घर पर टिकाना चाहता भी, तो मैं ही टिक नहीं पाता ।”

“क्यों ?”

“प्रकृति के सिद्धांत बड़े विचित्र हैं वेटी !” बाबा कुछ सोचते हुए बोले, “एक व्यक्ति यदि बहुत सारे वैभव के बीच जीने का अभ्यस्त हो जाए तो वह बिना वैभव के जी नहीं सकता । उसी प्रकार, जो व्यक्ति बिना सुविधाओं के जीने का अभ्यस्त हो, वह अधिक वैभव देखते ही ध्वरा उठता है । मैं धनाढ्य लोगों के निकट्य में सहज नहीं रह पाता हूँ । मेरा मन धवराने लगता है । मैं निर्धन लोगों के बीच अधिक सहज और सुखी रहता हूँ । वैसे भी मैंने संकल्प कर रखा है कि मैं धनियों के घर नहीं टिकूंगा ।”

“तो फिर आप कहां टिके ?” इस बार सुदामा ने पूछा ।

“द्वारका में कृष्ण द्वारा स्थापित एक गुरुकुल में...”

“तो कृष्ण ने गुरुकुल की स्थापना कर ली ?” सुदामा के मुख से अनायास निकला ।

“हां !” बाबा बोले, “गुरुकुल, नगर के ठीक बीच में तो नहीं है; नगर के ऐश्वर्य से हटकर कुछ दूर सागरतट पर है । उसी गुरुकुल में मेरा एक मित्र भी अध्यापक है । उसीकी कुटिया में मैं भी टिक गया था ।...”

“उस गुरुकुल में क्या आर्यपुत्र अध्यापक नहीं हो सकते ?” सुशीला के स्वर में व्यग्रता की ध्वनि अत्यन्त स्पष्ट थी ।

“सुदामा ?” बाबा बोले, “क्यों नहीं हो सकता । सुदामा कृष्ण का मित्र है । वामुदेव योगीश्वर कृष्ण को कहने को भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी और सुदामा की नियुक्ति हो जाएगी ।”

“राजकीय गुरुकुल ।” सुदामा कुछ उपेक्षा से बोले, “वहां शासनतंत्र ज्ञान की बेल को बिना कतर-झ्यौत के, स्वच्छन्द रूप से फँलने देना क्या ? एक तो राजकीय गुरुकुल में चाकरी करूँ और उसके लिए भी कृष्ण के

सामने याचक बनकर हाथ फैलाऊं।” सुदामा रुके, “बाबा ! आप जानते हैं कि मेरी महत्वाकांक्षा यह नहीं है।”

“आपकी महत्वाकांक्षा तो यह नहीं है।” सुशीला बोली, “किंतु महत्वाकांक्षा पूरी न हो तो मनुष्य सामान्य जीवन जीने का प्रयत्न तो करता ही है।”

सुदामा ने आहत दृष्टि में सुशीला को देखा और धीरे-से बोले, “ऐसे कोई चाकरी कर ली तो मेरा दर्शन-गंध धरा का धरा रह जाएगा। ज्ञान-योग की धेड़ता का स्वप्न, स्वप्न ही रह जाएगा।”

“देखो ! मैंने तो जीवन-भर कोई चाकरी की नहीं।” बाबा बीच-बीचाव-सा करते हुए बोले, “मुझे चाकरी का कोई अनुभव नहीं है। सत्य तो यह है कि मुझे चाकरी के नाम से ही घबराहट होती है। पर, द्वारका के गुरुकुल में जो स्थिति मैंने देखी है, उससे ऐसा नहीं लगता कि वहाँ के आचार्यों, अध्यापकों और साधकों को ज्ञान-साधना में कोई विघ्न उपस्थित होता होगा। इस संदम में मैंने कृष्ण में एक अद्भुत उदारता देखी है। गुरुकुल यद्यपि पूर्णतः राजकीय अनुदान से चलता है और वहाँ के आचार्य, अध्यापक, साधक तथा ब्रह्मचारी बड़े सुख और सुविधा से रहते और कार्य करते हैं; किंतु गुरुकुल में तनिक भी राजकीय हस्तक्षेप नहीं है।”

“ऐसा संभव ही नहीं है बाबा।” सुदामा बोले, “ऐसा कौन-सा शासन होगा, जो अपने धन से ऐसे लोगों का पोषण करे जो उसके अनुशासन से बचना न चाहें। गुरुकुल के विद्वान् राजपुरुषों की उपेक्षा करेंगे तो क्या शासनतंत्र उमें सह लेगा ? कभी नहीं ! राजपरिवार की इसी उदारता का भरोसा कर द्रोणाचार्य अपना आश्रम त्याग कर हस्तिनापुर गए थे। पर क्या हुआ ? राजपुत्रों का राजगुरु एक राजपुरुष से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। द्रोणाचार्य अपने शिष्यों के गुरु न रहकर उनके आदेशों का पालन करनेवाले बनकर होकर रह गए हैं।

“यह तुम्हारा भ्रम है सुदामा !” बाबा का स्वर इस बार पर्याप्त दृढ़ था, उनका ध्वजहार चाहे कितना ही कोमल और स्नेहयुक्त हो, पर निर्दोष की धान आते ही वे फटोर हो जाते थे।

“भ्रम की क्या धान है ?” सुदामा का स्वर भी कुछ आग्रहपूर्ण हो

गया, "आचार्य द्रोण आज किसी राजपुरुष से कुछ अधिक हैं क्या?"

"द्रोण अब आचार्य ही नहीं हैं," बाबा अपने शब्दों को चया-चवाकर दृढ़ स्वर में बोले, "द्रोण राजपुरुष हैं। कुरु सेनाओं के सेनापति हैं। कुरुओं के मडलेस्वर हैं। अहिच्छत्रा के राजा हैं। द्रोण पूरा राजनीतिज्ञ है। वह न आचार्य है, न ऋषि। और फिर..." बाबा का स्वर कुछ ऊंचा हो गया, "तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्य हस्तिनापुर में ज्ञान की साधना करने नहीं आए थे कि उन्हें चित्तन की स्वतंत्रता की आवश्यकता होती..."

"नहीं। आए तो वे आजीविका..." सुदामा ने बात काटी।

पर बाबा ने सुदामा को अपनी बात पूरी नहीं करने दी, "नहीं! आजीविका के लिए भी नहीं। वह द्रुपद के विरुद्ध मन में घृणा, कटुता और प्रतिहिंसा की भावना लिए हुए उसे अपमानित करने के लिए उपकरण इकट्ठे करने आया था।"

"तो उसमें गलत क्या था?" सुदामा भी कुछ आवेश में आ गए, "द्रुपद ने उनका अपमान क्यों किया था?"

"द्रुपद ने द्रोण का अपमान नहीं किया था।" बाबा ने ठंडे किंतु वृद्ध स्वर में कहा, "पर विवाद के लिए यदि तुम्हारी बात मान भी ली जाए तो एकलव्य ने तो द्रोण का अपमान नहीं किया था। द्रोण ने उसका अंगूठा क्यों कटवाया?"

"उस घटना का हमारे विवाद से क्या संबंध?" सुदामा ने अपनी हल्की-सी हंसी से अपना विरोध प्रकट किया।

"संबंध ही बता रहा हूँ।" बाबा अपने प्रवाह में बोलते चले गए, "एकलव्य का अंगूठा कटवा लेना यह सिद्ध करता है कि द्रोण में न उदारता है, न न्याय-भावना। गुरु में उदारता होनी चाहिए, आकाश के समान। वह अपना स्वार्थ नहीं देखता। उसकी छाया में तो प्रत्येक जीव अपनी क्षमता-भर विकास करता है। द्रोण में यह गुण ही नहीं है। उसमें अपनी दान-शक्ति का अहंकार और अपने स्वार्थ साधनों की सकुचित मनोवृत्ति है।"

"आप गुरु द्रोण को बहुत छोटा बना रहे हैं बाबा।" सुदामा ने हंस-कर, फिर अपनी असहमति प्रकट की।

“छोटा ही सही।” बाबा बोले, “मेरी दृष्टि में प्रत्येक वह व्यक्ति बहुत तुच्छ है, जो अपने ज्ञान की सौदेबाजी करता है। द्रोण वचन से ही भौतिक सुविधाओं के लिए तड़प रहा था। यदि वह द्रुपद के पास जाकर सहायता मात्र मागता तो शायद द्रुपद उदारतापूर्वक उसे धन दे देता। पर द्रोण का अहंकार...याचना भी करेंगे और मित्र भी बने रहेंगे...” मैं तो इन बुद्धिजीवियों के इस अहंकार से तंग आ चुका हूँ। एक ओर त्याग, वलिदान, आत्म स्वाभिमान का ढोंग भी करेंगे और फिर भौतिक सुविधाओं के लिए लार भी टपकाएंगे। दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकती सुदामा !” बाबा ने सुदामा के चेहरे पर अपनी आंखें टिकाईं, “द्रुपद ने क्या गलत कहा था कि मंत्री के लिए कोई समान आधार चाहिए। “और इससे पीड़ित होकर आचार्य द्रोण ने प्रतिहिंसा का वह बीज बोया, जिससे अनेक उदात्त जीवन घृणा से काले हो गए। द्रोण की दृष्टि इतनी संकीर्ण हो गई कि शक्ति ही उसके लिए जोधन का लक्ष्य हो गई...”

“इसे छोड़िए बाबा।” सुशीला का अर्धर्य मुखर हुआ, “विवाद का विषय यह नहीं है।...ये गुरु द्रोण को अपने शिष्यों के आदेशों का पालन करनेवाला जाकर कह रहे हैं।...पर अहिंसा के राजा भी तो वे ही हैं। अपने आश्रम में बैठे, ब्रह्मचारियों को पढ़ाते रहते तो द्रुपद के आधे राज्य के स्वामी न होते।”

“तुम दोनों ही अपनी-अपनी जगह ठीक हो।” बाबा बोले, “प्रश्न यह है कि आप भौतिक समृद्धि के बिना सुखी रह सकते हैं, या भौतिक समृद्धि के लिए अपनी आत्मा और स्वधर्म का मूल्य चुका कर सुखी रह सकते हैं।” ...बाबा ने ठककर, पति-पत्नी दोनों को देखा, “मैं सुदामा की बात को एक सीमा तक ठीक मान सकता हूँ। मैं कल्पना कर सकता हूँ कि जब दुर्योधन जैसे राजा के आदेश से किसी श्रृंगारिणी को अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध कुछ करना पड़ता होगा तो उसे कितना आत्मदमन करना पड़ता होगा। पर द्रोण को मैं उन लोगों में से मानता हूँ, जिनके लिए अन्तरात्मा और आत्मदमन जैसी अवधारणाओं का अस्तित्व ही नहीं है।...”

“अच्छा ! गुरु द्रोण को छोड़िए। आप अपना ही उदाहरण लीजिए

बाबा ! ” सुदामा कुछ उद्दीप्त स्वर में बोले, “क्या आपको किसी राज-  
दरबार में राज-पंडित या राज-पुरोहित का पद नहीं मिल सकता ? आप  
क्या किसी राजकीय गुरुकुल के आचार्य, उपाध्याय अथवा कुलपति नहीं  
हो सकते ? ...”

“मेरी बात छोड़ दे ! ” बाबा की सारी दृढ़ता विलीन हो गई। वे  
बालक क-से स्वच्छंद मन से हमें, “मैं तो जन्म का उच्छृंखल ठहरा। मेरी  
राह चलेगा, तो अपनी गृहस्त्री का भी पालन नहीं कर पाएगा। मुझे कोई  
राजकीय सम्मान मिलता है तो मेरी आत्मा मुझे धिक्कारने लगती है। मैं  
सोचने लगता हूँ कि मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया है कि मुझे उसका यह  
दंड मिल रहा है। मैं तो राजाओं का, शासनों का विरोधी रहकर ही सुखी  
रह सकता हूँ...”

“ससार में कुछ और लोग भी ऐसे हो सकते हैं बाबा ! ” सुदामा  
बोले।

“हो क्यों नहीं सकते। मुझे कहने में संकोच है तो मैं ही कह दू कि तू  
ही उनमें से एक है।” बाबा हंस पड़े, “हम उस विरादरी के लोग हैं, जो  
ज्ञान से ऊपर कुछ नहीं मानते, जो सिवाय ज्ञान के किसी शक्ति का  
बाधिपत्य नहीं मानते, जो सिवाय ज्ञान के किसीकी सत्ता से पराभूत नहीं  
होते...” बाबा ने दककर सुदामा को देखा, “किंतु फिर भी तुझमें और  
मुझमें भेद है। थोड़ी देर पहले तू ही स्वधर्म की चर्चा कर रहा था। तो  
तेरे और मेरे स्वधर्म में भी अंतर है। अधिक न सही, पर थोड़ा-बहुत तेरी  
और मेरी प्रकृति में भेद तो है ही।”

सहसा उन तीनों का ध्यान कुटिया के द्वार पर लड़े विवेक की ओर  
चला गया। वह जोर-जोर से रो रहा था।  
सुशीला झपटकर उसके पास पहुंची, “क्या हुआ ? ” और तभी उसने  
पलटकर सुदामा की ओर देखा, “यहां आइए। इसके मुंह से तो खून आ  
रहा है।”

सुदामा ने घुटनों के बल बैठकर विवेक के हाथों को देखते-देखते  
निचले हाँठ से खून वह रहा था।  
“गिर पड़े क्या ? ” उन्होंने पूछा।

"रोहित ने धक्का दे दिया।" विवेक रोते हुए बोला।

"यह रोहित?" सुशीला बड़बड़ाई।

"रोना बंद कर।" सुदामा ने डांटा, "हॉट में तेरे अपने दांत ही तो लग गए हैं।..."

"मुनिए। वैद्य..."

"कोई आवश्यकता नहीं है वैद्य को।" सुदामा बोले, "पानी दो। मुंह धुलवा देता हूँ। अभी ठीक हो जाएगा।"

"वैद्य को..." सुशीला ने फिर कहना चाहा।

"कुछ नहीं हुआ।" सुदामा ने डाट के-से स्वर में कहा, "साधारण-सी बात है। बच्चे खेलेंगे तो गिरें-पड़ेंगे भी। चोट भी लगेगी ही।"

सुशीला बड़बड़ाती हुई गई और पानी ले आई। सुदामा ने विवेक का मुंह धुलवाया, कुल्ला करवाया और कहा, "जाओ खेनो।"

"अब कहा भेज रहे हैं?" सुशीला बोली।

"खेलने।" सुदामा ने उत्तर दिया, "अब यह मत कहना कि इसे बहुत चोट लग गई है, इसलिए इसे विश्राम करना चाहिए।"

सुशीला ने एक विवश दृष्टि सुदामा और विवेक पर डाली और फिर जैसे स्वयं को संयमित करती हुई सी बोली, "अब रोहित के साथ मत खेलना। तुम्हें हजार बार कहा है कि उसके साथ मत खेला कर।"

"क्यों? रोहित को क्या हुआ है?"

"मारपीट करता है, और क्या!" सुशीला कुछ उग्र स्वर में बोली, "जब देखो, हमारे बच्चे रोते हुए ही घर आते हैं।"

"तो किस-किस से खेलने को रोकोगी?" सुदामा बोले, "इन्हें सिखाओ कि रोते हुए न आएँ।..." जाओ बेटा। तुम जाओ।"

विवेक चला गया।

"केवल इतना ही क्यों?" विवेक के जाने पर आवा बोले, "इन्हें सिखाओ कि कोई इन्हे मारे तो मे अपनी रक्षा करें। आत्मरक्षा में दूसरों को पीटना पड़े, तो भी कोई बुराई नहीं है।"

"ये क्या पीटेंगे।" सुशीला बोली, "शरीर में जान तो है नहीं। आप क्यों नहीं जाकर रोहित को धमकाते।"

सुदामा हंस पड़े, "मैं कौन होता हूँ, दूसरों के बच्चों को धमकाने वाला। इन्हें भी तो जीवन जीना है। सीखने दो, उसका सामना करना। हम कहां-कहां इन्हे बचाते फिरेंगे।"

"क्यों?" रोहित की मां सारे ग्राम के बच्चों को धमकाती फिरती है कि मेरे बच्चे को हाथ लगाया तो हाथ तोड़ दूगी। "बच्चा क्या उसीका है? हमारे बच्चे नहीं हैं?"

"बच्चे तो तुम्हारे भी हैं।" सुदामा बोले, "पर तुम रोहित की मां नहीं हो। मैं काशीनाथ नहीं हूँ। हम उस प्रकार का असभ्य व्यवहार नहीं कर सकते, जैसा वे करते हैं।"

बाबा हंस पड़े, "तुम कृष्ण के मित्र हो, अपने बच्चों को यह नहीं सिखा सकते कि कोई तुम्हें मारे तो तुम भी उसे मारो। हाथ से न मारो तो इंट-पत्थर से मारो।"

सुदामा भी हंस पड़े, "मित्र तो मैं कृष्ण का हूँ, पर सचमुच अन्याय के विरुद्ध शक्ति-प्रयोग न तो मैं सीख पाया, न अपने बच्चों को सिखा पाया।"

बाबा गंभीर हो गए, "एक बच्चा यह होता है, जिसे सिखाना पड़ता है कि किसीसे लड़ो मत, किसी को मारो मत। पर मुझे लगता है कि तुम्हारे बच्चों को तो हिंस्र बनना सिखलाया जाना चाहिए।"

"हिंस्र बनना क्या सिखाएं बाबा।" सुदामा बोले, "आपने देख तो लिया ही है कि तनिक-सा होंठ कट जाने पर सुशीला कैसे घबरा जाती है। बँध की बात करने लगती है। कही इंट-पत्थर से लड़ने लगें और सिर फोड़ने लगें...।"

"नहीं! नहीं!! ऐसे ही ठीक है।" सुशीला जल्दी से बोली।

"हां! खून बहाने से आंसू बहाना ही अच्छा है।" बाबा और खोर से हंस पड़े।

सुदामा समझ नहीं पाए कि बाबा, सुशीला का समर्थन कर रहे हैं या विरोध...

जब बाबा आगे कुछ नहीं बोले और अपने भीतर ही कही डूबकियां लगाते रहे तो सुदामा ही बोले, "आप मेरे और अपने भेद की बात



कर रहे थे।”

बाबा की आंखों में एक शून्य तैर गया... थोड़ी देर में उनकी आंखों में पहचान उतरी, “हा ! भेद जो है।”

“क्या भेद है ?”

“मेरी प्रकृति गतिशील है। मैं टिककर कहीं नहीं रह सकता— अपने घर में भी नहीं। किसी ज्ञान के केन्द्र, किसी साधना के आश्रम में भी नहीं। पर तू अपने घर में बंधा है। तुझे अपने परिवार से मोह है। तुझे अपना स्थान छोड़ना पड़े तो तू भरसक उसका विरोध करेगा; और मुझे एक स्थान पर टिकना पड़े तो मेरे भीतर से कोई मुझे धक्का मारने लगेगा—चल ! चल !” बाबा का स्वर कुछ और गंभीर हो गया, “आजकल तो मेरी उच्छ्वसलता की अति हो गई है। न एक स्थान पर टिकता हूँ, न अधिक समय तक एक विचार को लेकर बंधता हूँ। न किसी एक रचना पर अधिक समय लगा पाता हूँ; और तो और, एक विषय को अधिक समय तक पढ़ भी नहीं सकता। मेरी इधर की रचनाओं को देखा है— प्रथम लिखना तो दूर, कोई रचना छोटी-सी पोथी की स्थिति तक भी नहीं पहुंच पाती।”

“तो मैं भी कुछ अधिक भ्रमणशील बनूँ ?” सुदामा के स्वर में परिहास था।

“नहीं !” बाबा उसी प्रकार गंभीर बने रहे, “अपने मित्र कृष्ण के स्वधर्म वाले सिद्धांत का ध्यान रख। तू अपने स्वधर्म पर टिका रह। तू मेरे समान घुमकूट बन गया तो व्यवस्थित काम कैसे करेगा, बड़े-बड़े ग्रंथ कैसे लिखेगा ? ...” बाबा ने रुककर सुदामा को देखा, “...पर हमारी बातचीत भटक गई है। मैं अपनी और तुम्हारी चर्चा नहीं कर रहा था। मैं चर्चा कर रहा था, द्वारका के गुरुकुल और कृष्ण के व्यवहार की।”

“हा ! क्या देखा आपने ? क्या वहां के ज्ञान के विकास में राजनीति का हस्तक्षेप मही है ?”

“नहीं ! और यदि है, तो मुझे दिखाई नहीं दिया।” बाबा बोले, ‘आज कृष्ण से बड़ा राजनीति विचारक कौन है। यदि राजनीति के हस्तक्षेप से मुक्त गुरुकुल की स्थापना में भी कोई राजनीति हो, तो ■ कह

नहीं सकता। ...“बाबा थोड़ी देर के लिए किसी स्मृति में डूब गए। सुदामा देख रहे थे, बातचीत के बीच में कहीं खो जाने की यह प्रवृत्ति बाबा में बहुत बढ़ गई थी, ...“एक दिन जब मैं वहीं था, कृष्ण आया था गुरुकुल में—वहाँ के बन्तःवासियों को उनकी रक्षा का आश्वासन देने। यह शास्त्र के आक्रमण के दिनों की बात है...”

सुदामा, बाबा की ओर देखते रहे। कुछ बोले नहीं।

“ऐसा नहीं लगा कि गुरुकुल का स्वामी या गमा है, या पादवों का सबसे शक्तिशाली नायक आया है। कृष्ण का आना वैसा ही था, जैसा किसी भी सम्मानित अतिथि का आना हो सकता है। कुलपति के कुटीर के सम्मुख समाज जुटा था। सब लोग तृणों के बने ऐसे ही आसनों पर बैठे थे।” बाबा ने अपने आसन को छुआ, “कृष्ण को भी ऐसा ही आसन दिया गया। उसे न ऊँचे स्थान पर बैठाया गया, न किसी मंच अथवा ऊँचे आसन पर। न उसके अंगरक्षक साथ थे, न चाकरें-परिवारक। वह गुरुकुल के समाज में ऐसे बैठा था, जैसे उन्हींमें से एक हो। और फिर...”

“और फिर?” मुसीला ने पूछा।

“जब पाद-विवाद आरंभ हुआ, तर्क-वितर्क होने लगे, तो लगा कि सब ही भूल गए हैं कि किसका क्या पद था, किसकी क्या स्थिति थी। वह तो दार्शनिकों की एक सभा थी, जहाँ सब समान थे, सब स्वतंत्र थे, सब स्वाभिमानी थे, सबको अपने तर्कों पर भरोसा था। कृष्ण भी उन्हीं दार्शनिकों में से एक था। ...मुझे सीरध्वज जनक की याद हो आई। वह भी दार्शनिकों की ऐसी ही सभाएं करता रहा होगा...”

“वहाँ किसीने श्रीकृष्ण के तर्कों का विरोध भी किया?” सुदीला के स्वर में खंडन की व्यग्रता थी।

“अनेक लोगों ने।”

“श्रीकृष्ण को क्रोध नहीं आया क्या?”

“नहीं।” बाबा बोले, “जब भी कोई तर्क उसके विरुद्ध दिया जाता, वह पूर्ण गंभीरता और सम्मान से उस तर्क को सुनता, सोचता और फिर उत्तर देता था।”

“उस तर्क-वितर्क में श्रीकृष्ण ही विजयी हुए होंगे।” मुसीला मुस्करा



प्रदर्शन है। पर मैं सोचता हूँ सुदामा।" बाबा ने अपनी दृष्टि सुदामा पर टिका दी, "रुक्मी और शिशुपाल बार-बार ऐसा क्यों कहते रहे?"

"क्यों?"

"इसलिए कि उनका अपना राजत्व वास्तविक नहीं था। कृष्ण के सामने उनके राजत्व की पोल खुल जाती थी। इसलिए वे कृष्ण को नकारते रहे; अन्यथा कृष्ण के राजा होने-न-होने से उसकी शक्ति में कहां अंतर पड़ता है?"

"रुक्मी और शिशुपाल का राजत्व वास्तविक नहीं था?" सुदामा ने आश्चर्य से पूछा।

"अरे वे राजा थे क्या?" बाबा वितृष्णा से बोलते, "जरासंध के कुत्ते थे। जरासंध को कृष्ण से भय लगता था तो वह उन्हें हुड़का देता था और वे भौंकने लगते थे। ज्ञान के क्षेत्र में भी जब कृत्रिम और झूठे, तथाकथित विद्वानों का आसन ढोलने लगता है तो वे सकेत कर देते हैं और उनके पालतू कुत्ते भौंकने लगते हैं। पर जरासंध भी मारा गया, रुक्मी भी और शिशुपाल भी। ज्ञान-क्षेत्र के ये बने हुए मलिन और उनके कुत्ते भी काल के गाल में समा जाएंगे। इनकी शारीरिक मृत्यु आवश्यक नहीं है—इनकी विद्वत्ता की मृत्यु बहुत शीघ्र हो जाती है, तब ऐसे लोग कोई और धंधा करने लगते हैं।" पर मैं तुम्हारे विषय में कह रहा था "।"

"क्या?"

"यदि तुम पर किसीका अनुग्रह हो भी गया तो तुम्हारा अपना स्वभाव आड़े आएगा। तुम किसीसे मिलने नहीं जाओगे; जाओगे तो चाटुकारिता नहीं कर पाओगे; अन्याय देखकर चुप नहीं रहोगे; राजनीति की सहायता तुम नहीं लोगे"। सहसा बाबा ने रुककर सुदामा की ओर देखा, "आजकल आजीविका का क्या साधन है?"

"बही! अध्यापन। दस-बारह षट्क आते हैं, उन्हें पढ़ा देता हूँ। जो कुछ वे दे जाते हैं, उसीसे चलता है।"।

"क्या पढ़ाते हो—दर्शन?"

"आप भी क्या कह रहे हैं बाबा।" सुदामा हंस पड़े, "इस गंवई गांव में दर्शन पढ़ने कौन आएगा। बच्चे हैं, थोड़ा-सा अक्षर-ज्ञान, थोड़ा-सा

अंक-ज्ञान, थोड़ा-सा सामान्य ज्ञान, थोड़ा-सा धर्म-ज्ञान...।”

“सुदामा जैसा मेधावी दार्शनिक बच्चों को अक्षर-ज्ञान और अक्षर-ज्ञान कराकर अपने परिवार का पालन करता है।” बाबा के स्वर में पीड़ा का मिश्रण था, “तो आश्रमों और गुरुकुलों में दर्शन के साधकों को ज्ञान देने का अधिकारी कौन है ?”

“जो है, वे ज्ञान दे ही रहे हैं। राजपुरुषों के संबंधी, सत्ता के चाटुकार, ज्ञान के हत्यारे, बड़े-बड़े तिलक-शीका, पदवी-उपाधि-धारी।” सुदामा हंस पड़े।

सुशीला बच्चों को हूँद कर ले आई। उन्हें सुदामा को सौंपते हुए शिकामत के-से स्वर में बोली, “ये अब भी आने को तैयार नहीं थे। शरीर में प्राण नहीं है और छाती फाट कर खेतते हैं। स्वयं को इतना थका डालेंगे और फिर अचेत होकर सो जाएंगे। प्रातः इन्हें जगाने के लिए मत्स्ययुद्ध करना पड़ता है।”

“बच्चे हैं बहू।” बाबा बोले, “अब तुम्हें भी बताना पड़ेगा कि बच्चे ऐसे ही होते हैं।”

सुदामा ने बच्चों के हाथ-पैर धुसा दिए और चटाई बिछाकर उन्हें बैठा दिया। सुशीला ने चूल्हा जला लिया था। कड़ाही चढाकर घी गर्म होने तक उसने प्रतीक्षा की और पहली पूरी के डालने के साथ हुई छन्न-न-न ध्वनि के साथ ही बोली, “यदि आप मित्र के सामने याचक बनकर नहीं जाना चाहते तो द्वारका के गुरुकुल के कुलपति के पास क्यों नहीं जाते। वह तो राजनीतिज्ञ न होकर कोई विद्वान् ही होगा। उससे तो याचना नहीं करनी पड़ेगी। यह तो आपकी योग्यता के कारण ही आपका सम्मान करेगा।”

सुदामा को भोजन के प्रसंग में से निकलकर सुशीला की बात का सूत्र पकड़ने में क्षण भर लगा और सूत्र पकड़ते ही वे हंस पड़े, “तो तुम्हारे मस्तिष्क में अब भी वही बात घूम रही है।”

“क्यों बाबा! ठीक नहीं कह रही हूँ क्या?” सुशीला ने सुदामा से जैसे निराश होकर बाबा को संबोधित किया।

“कह तो ठीक ही रही हो बेटी।” बाबा बोले, “पर मैंने तो कृष्ण की उदारता की सराहना की थी, गुरुकुल के कुलपति की तो नहीं।”

“बाबा! आप फिर केवल पिताजी और मां से बातें कर रहे हैं,“

जान बीच में बोला, “और हमें कहानी भी नहीं सुना रहे हैं।”

“बड़ों की बातों के बीच में ऐसे नहीं बोलते बेटे।” सुदामा ने कीमल

वर में कहा, “हम अपनी बात पूरी कर लें, फिर बाबा तुमसे बातें भी

करेंगे और तुम्हें कहानी भी सुनाएंगे।”

“पिताजी! यह सदा ऐसे ही करता है।” विवेक ने बाबा के सम्मुख

पहली बार मुख खोला, “मुझे अपने मित्रों से बात नहीं करने देता। सम-

झता है, वे मेरे नहीं, इसके मित्र हैं।”

बाबा ने बड़ी रुचि से विवेक को देखा, “अरे यह तो बोलता भी है।

मैंने समझा कि एकदम चुप्पा है।”

“तो पिताजी! फिर मां के मित्र मुझसे बातें क्यों करते हैं?” आश्रीष

से भग्नाए हुए स्वर में, जान ऊंचे गले से बोला, “वे मुझसे बातें करेंगे तो

क्या मैं उनसे नहीं बोलूंगा।”

“अरे-अरे! यह छोटा तो बड़ा असाढ़ेबाज है भाई!” बाबा हंसे,

“बड़े का तनिक भी रोव नहीं मानता।”

विवेक ने अपने पिता और बाबा की ओर देखा और चुप रह गया।

“आजकल इनकी पटरी नहीं बैठ रही है।” सुदामा बोले, “बड़ा,

छोटे को छोटा नहीं मानता और छोटा, बड़े को बड़ा नहीं मानता। विवेक

को इसका व्यवहार बहुत बचकाना लगता है और ज्ञान को बड़े भाई का

अनुशासन बहुत बँडोर।”

“छोड़िए बाबा, इन्हें। मैं आपका अभिप्राय समझी नहीं।” सुशीला

ने पूरियां निकालकर थाली में डाली, “पूरियां परोस दीजिए।”

“मैं भूल ही गया, बात क्या चल रही थी।” बाबा बोले।

“आप कृष्ण की उदारता और कुलपति की अनुदारता की बात कर

रहे थे।”

सुदामा ने उठकर बाबा के पत्तल पर पूरी परोसी तो बाबा ने बाधा

दी, “अरे पहले बच्चों को खिलाओ। खेचकर बाए है, इन्हें भूख लगी

होगी।”

“आप लीजिए।” सुदामा बोले, “बच्चे भी खाएंगे ही।”

“नहीं! नहीं!!” बाबा ने अपने पत्तल की पूरी उठाकर विवेक के पत्तल पर डाल दी, “बच्चों को खिलाए बिना खाने से मुझे तृप्ति नहीं होगी। वैसे भी बच्चों को नौंद आ जाएगी। उन्हें पहले खिला लो। हम सब मिलकर वाद में खाएंगे।”

सुदामा को बाबा की बात माननी पड़ी।

“हां बाबा! क्या कह रहे थे?” सुशीला ने फिर पूछा।

“तू थड़ी चतुर है बेटा। तनिक भी भटकने नहीं देती।” बाबा हँसे, “मैं कह रहा था कि कृष्ण मुझे जितना उदार और विशाल हृदय लगा, वह कुलपति मुझे उतना ही संकीर्ण और स्वार्थी लगा। वह विद्वान् तो है, पर ज्ञानी नहीं है। कई बार पुस्तकीय विद्वता मनुष्य के चरित्र का संस्कार करती ही नहीं। मुझे नहीं लगता कि वह बिना अपना कोई स्वार्थ साधे सुदामा को अपने गृहकुल में किसी भी प्रकार की नियुक्ति देगा। हा! उसे यह सूचना हो जाए कि सुदामा, कृष्ण का मित्र है, तो भात और है।”

“मुझे अनुचित मार्ग से कोई नियुक्ति नहीं चाहिए।” सुदामा ने उदासीन स्वर में कहा।

“तो भ्रष्ट राजपुरुषों और आपके इन विद्वानों में क्या अन्तर है?” सुशीला आश्रय के साथ बोली, “दिन भर राजनीतिज्ञों तथा राजपुरुषों को कोसने का क्या लाभ?”

“तुम समझी नहीं बिटिया!” बाबा बोले, “ये तथाकथित विद्वान् भी तो उसी भ्रष्ट राजनीति तथा भ्रष्ट समाज की उपज हैं।”

“तो श्रीकृष्ण ने ऐसा कुलपति क्यों चुना?”

“यह तो भगवान ही जाने।” बाबा बोले, “कौन जानता है कि यह नियुक्ति कृष्ण ने की है या किसी अन्य राजपुरुष ने। कृष्ण तो आज तक भीतर और बाहर की भ्रष्ट राजशक्तियों से उलझ रहा है। उसे अवकाश ही कहां है। जरासंध से वह लड़ा। कालयवन को उसने मारा। चंडी, विदमं तथा पण्यजनों से वह उलझा रहा। आयवित्त का ध्यान वह छोड़

नहीं पाता। काशी, कुरु और पांचाल की राजनीति में वह घंसता जा रहा है। और फिर शाल्व...” बाबा ने सांस ली, “इधर शक्ति पाकर यादवों में उदंडता बढ़ती जा रही है। कृष्ण ही उनका अनुशासन कर रहा है...। और फिर वह राजा तो है नहीं कि सर्वशक्तिशाली हो।”

“उस कुलपति की नियुक्ति के लिए कृष्ण उत्तरदायी हो या न हो, बाबा तो उत्तरदायी नहीं ही हैं।” सुदामा हंसे, “इस विवाद को यहीं छोड़ो और शांत मन से भोजन करो। भोजन के समय मस्तिष्क का उत्तेजित होना लाभकारी नहीं है।”

“अच्छा! केवल एक बात।” पूरिया बेलती हुई सुशीला ने सुदामा से कहा और बाबा की ओर देखा, “कृष्ण राजा नहीं हैं?”

“नहीं!” बाबा ने बताया, “कृष्ण राजा नहीं हैं। उग्रसेन को राजा कहा जाता है, पर वस्तुतः वह भी यादवों की राज-परिपद् का अध्यक्ष मात्र ही है। बुद्धे को राजा कहकर लोग प्रसन्न कर देते हैं।” बाबा एक हाथ पर दूसरा हाथ पटक जोर से हंसे।

“अच्छा! तो राज कौन करता है?”

“परिपद्! नायकों की परिपद्।” बाबा बोले, “वस्तुतः यादवों में नायकों का गणतंत्र है। कृष्ण उनका सबसे अधिक प्रभावशाली नायक है। जब कभी आवश्यकता होती है, वह परिपद् को अपने पक्ष में कर, अपनी इच्छा पूरी करवा लेता है।”

“तो वे राजा बन क्यों नहीं जाते?”

“क्या आवश्यकता है।” बाबा बोले, “प्रभाव की दृष्टि से, आज वह चक्रवर्ती सम्राटों से भी अधिक शक्तिशाली है और उस पर भी समय-असमय वह घोषणा कर देता है कि मैं तो एक ग्वाला हूँ।”

“है तो वह ग्वाला ही।” सुदामा हंस पड़े।

“हां! है तो वह ग्वाला ही, तभी तो सारे आर्यावर्त की राजकुमारियां उसके लिए पागल हो उठी हैं।” बाबा की हंसी ने सुदामा की हंसी को और भी तेज कर दिया।

वच्चे खाकर उठ गए। उन्होंने अपने-अपने पतल उठाकर बाहर डाल दिए। सुदामा पानी लेकर उनके हाथ-मुह धुलाने लगे। सुशीला ने उस



स्थान को गीले कपड़े से पुनः लीप दिया। सुदामा बाहर चारपाइयां बिछा, बच्चों को लिटा आए। फिर से पत्तल लगे और बाबा तथा सुदामा साने बैठे।

“पूरियां तल लो और सुम भी आ जाओ बहू।” बाबा बोले, “एक साथ ही खाएंगे।”

“नहीं बाबा! आप लोग खाइए। मैं बाद में खाऊंगी।” सुशीला बोली, “सबको खिलाए बिना खाने से मेरी तृप्ति नहीं होगी।”

“बड़ा घुरा प्रचलन है।” बाबा बोले, “पहले सब खा लें, तब अन्न-पूर्णा खाएंगी। उसके लिए चाहे कुछ बचे न बचे।”

“नहीं बाबा! मेरे लिए बहुत बचेगा।” सुशीला हंस पड़ी, “कम है, इसलिए आपको पहले नहीं खिला रही। रसोई का दायित्व मुझ पर है, इसलिए सबको खिलाकर खाना ही मेरा धर्म है।”

“तू अपनी जगह सच्ची है बेटी।” बाबा बोले, “पर तुम्हारा यह धर्म तुम्हारे शोषण का निमित्त न बने।” सहसा रुककर उन्होंने सुदामा को देखा, “बच्चे सो गए क्या?”

“भगड़ने का स्वर नहीं आ रहा तो सो ही गए होंगे।” सुशीला हंस पड़ी।

भोजन के पश्चात् सुदामा और बाबा कुटिया से बाहर निकल आए।

मौसम खुला हुआ था। न बहुत ठंड न गर्मी। शरीर हवा के स्पर्श का अनुभव तो करता था, पर हवा चलने का कोई प्रमाण नहीं था। आकाश पर तारे खुल कर झिलमिला रहे थे।

रसोई संभाल कर सुशीला बाहर आई तो उसने पूछा, “इस बार घर से निकले कितना समय हुआ बाबा?”

“वर्ष भर होने को आया है बेटी!” बाबा का स्वर धीमा था।

“आपको अपने परिवार की याद नहीं आती?” सुशीला ने फिर पूछा, “इतने-इतने समय तक आप उनसे अलग कैसे रह लेते हैं?”

“याद तो आती है बेटी! पर मैंने अपने मोह का साधारणीकरण कर लिया है।”

“कैसे ?”

“जिसके घर जाता हूँ, उन्हीं को अपने पुत्र, पुत्र-वधू, नाती-पोते मान-कर उन्हीं से प्यार कर लेता हूँ।” बाबा का स्वर स्निग्ध था, “अब सुदामा और तुम, क्या मेरे पुत्र और पुत्र-वधू नहीं हो बेटी ? ज्ञान और विवेक क्या मेरे पोते नहीं हैं ?”

“क्यों नहीं है बाबा !” सुशीला बोली, “रिश्ते केवल रक्त सम्बन्ध से ही तो नहीं होते । वे तो आत्मीयता से होते हैं।”

पर बाबा ने जैसे सुशीला की बात नहीं सुनी । वे अपने में मग्न हो कहते गए, “पिछली बार मेरी पुत्र-वधू कह रही थी कि मैं घर में भी कुछ समय रहा कलंक ताकि उसे भी मेरी सेवा का अवसर मिले । तब उसे भी मैंने यही उत्तर दिया था कि जब उसके घर में कोई वृद्ध आ जाए तो उसे वह अपना ससुर मान कर उसकी सेवा कर दिया करे । वह सेवा मुझे ही प्राप्त होगी । अपने मोह को संकीर्ण करने का कोई साधन नहीं है बेटी । वह सबके लिए ही कष्टप्रद है । मोह से मुक्ति का भी यही मार्ग है । अपने मोह को सूक्ष्म और विस्तृत करते जाओ । उसे स्थूल तथा संक्षिप्त मत रहने दो ।”

“यही तो ज्ञान-मार्ग है बाबा !” सुदामा बोले, “मोह को क्षीण करने का मार्ग । बुद्धि के घरातल पर जब आप अपने पुत्र तथा अन्य किसी भी युवक में भेद नहीं मानेंगे, अपने मोह को स्थगित कर, प्रत्येक युवक को समान दृष्टि से देखेंगे तो क्रमशः आप प्रत्येक जीव के प्रति समदृष्टि विकसित कर लेंगे । तब आपके लिए जीव और जीव का भेद तिरोहित ही जाएगा । सब एक ही जाएंगे...।”

“अच्छा दार्शनिक महोदय !” बाबा ने हास्य की मुद्रा में हाथ जोड़े, “हमारा प्रणाम लीजिए और एक तथा दूसरे दर्शन का भेद तिरोहित कीजिए ।...मैं संसार में भाई-भारे से, सबसे मिलाकर, स्वार्थी और संकुचित संबंधों से मुक्त होकर एक सुविधाजनक जीवन जीने का व्यावहारिक मार्ग खोज रहा हूँ और आप संसार को ही विलुप्त किए दे रहे हैं ।”

सुदामा मुस्कराए, “आपसे मेरा यह मतभेद तो सदा ही बना रहेगा बाबा ।”

“तो बना रहे।” बाबा भी हंस पड़े, “भेद बना रहेगा तो तुम्हारा ज्ञान-मार्गीय अभेद स्थापित नहीं होगा।”

“आप अपनी चाल बन गए बाबा !” सुदामा खुसकर हंसे, “मैं दार्शनिक ऊर्चाई पर, इस एक मामान्य वाक्य से मार खा गया।”

“अच्छा बाबा ! एक बात बताइए।” सुशीला ने कहा, “बहुत दिनों से पूछना चाह रही हूँ, पर साहस नहीं कर पाती।”

“पूछो बेटी ! मुझसे प्रश्न पूछने के लिए साहस की आवश्यकता नहीं होती। साहस तो आपायों से प्रश्न करने के लिए चाहिए, जो जिज्ञासा को अपना विरोध और अवज्ञा मानते हैं।” बाबा हसकर बोले, “मैं तो जीता ही प्रश्नों के बीच हूँ। मेरे लिए जिज्ञासा ज्ञान के नए मार्ग का द्वार है” विरोध नहीं।”

“साहस की बात इसलिए कही बाबा !” सुशीला ने स्पष्टीकरण दिया, “सुना है कि कई बार आप बड़े-बड़े लोगों को भी दुत्कार देते हैं। उनसे मिलना तक स्वीकार नहीं करते।”

“ठीक सुना है बेटी !” बाबा तिलदरे बच्चे के समान उत्फुल्ल दिखाई पड़ रहे थे, “बड़ा कौन है और छोटा कौन... यह बड़ा जटिल प्रश्न है। जिन्हें दुनिया बड़ा आदमी मानती है, मेरे लिए वे मल के ढेर के समान तुच्छ हैं। अपने प्रकार का एक बड़ा आदमी मैं स्वयं हूँ।...” वे हंसे, “हम जिससे मिलना चाहते हैं, स्वयं चलकर उसके घर चले जाते हैं, और जिससे न मिलना चाहें, उसके लिए हम बहुत बड़े आदमी हैं। उसके लिए हमारे पास तनिक भी समय नहीं होता। हम बहुत सुलभ हैं और बहुत अलभ्य। हम महाकाल को अपने कंधों पर लिए चलते हैं... पर तुम्हारा प्रश्न क्या है बेटी ?”

“आप आस्तिक है बाबा ! या नास्तिक ?”

बाबा हंसे, “मैं मधुर नास्तिक हूँ बेटी। मैं त्रिगुणात्मक सृष्टि को देखता हूँ। उस व्यवस्था और तंत्र को भी मानता हूँ, जिसके अधीन यह सृष्टि कार्य करती दिखाई पड़ती है; किंतु अपने ही जैसे मनुष्य के रूप में किसी अन्य लोक में रहने वाले ईश्वर की कल्पना अभी मेरी समझ में नहीं आई।”

“तो नास्तिक ही कहिए। मधुर नास्तिक क्या ?”

“मधुर नास्तिक इसलिए कहता हूँ, क्योंकि आस्तिकों से मेरा सँझा-  
तिक विरोध होते हुए भी, व्यावहारिक विरोध नहीं है। मेरी पत्नी अपने  
देवस्थानों पर मुझे साथ ले जाती है, तो चला जाता हूँ। उस पर अपने  
विचारों को बलात् आरोपित नहीं करता।...”

“द्वारका के राजकीय गुरुकुल में आपने श्रीकृष्ण के विचार भी सुने  
होंगे बाबा।” सुशीला के स्वर में एक पुलक थी, “वे आस्तिक हैं, या  
नास्तिक ?”

बाबा ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। वे कुछ मनन करते-से बैठे  
रहे। जब बोले तो उन्होंने उत्तर स्पष्ट ‘हां’ या ‘ना’ में नहीं दिया, “बात  
कुछ उलझी हुई है बिटिया ! वह आस्तिकों को नास्तिक लगेगा और  
नास्तिकों को आस्तिक।”

“इसका क्या अर्थ हुआ ?”

“अर्थ यह कि परंपरागत मान्यताओं पर तो कृष्ण चलता नहीं, न ही

उसे इस बात का भय है कि उसके किसी विशिष्ट कृत्य से उसे किसी  
विशिष्ट वर्ग में डाल दिया जाएगा। वह तो मौलिक चिंतन कर उस पर  
आचरण करने वाला अद्भुत व्यक्ति है। कभी लगता है कि वह पूरा लुब्धि-  
वादी आस्तिक है। कभी लगता है कि वह घोर नास्तिक है और कभी वह  
इस प्रकार बातें करता है, जैसे वह स्वयं ही ईश्वर हो।”

लगा, बाबा द्वारका के गुरुकुल में ही कहीं खो गए हैं।  
सुशीला कुछ सोचती खड़ी रही। सुदामा खाट पर लेटे हुए लुले

आकाश को देख रहे थे।

सुशीला ने बात आगे नहीं चलाई तो बाबा बोल, “अब तुम जाकर  
सो जाओ बेटी। थक गई होगी। प्रातः जल्दी उठना भी तो होगा।”

बाबा ने अपना झोला टटोला और उसमें से तुलसी दल की एक माला  
निकाल ली।

सुदामा ने दृष्टि फेंकी, जैसे वे अब तक सब कुछ देख और मुन रहे थे,  
“मधुर नास्तिक महोदय ! यह तुलसीदल की माला किसलिए है ?”  
“तुम जैसे आस्तिकों को स्मरण करने के लिए। जब भी तुमसे दूर



जब चादर-समाधि से मुल मिलने के स्थान पर ऊब होने लगी तो बाबा उठ बैठे ।

थोड़ी ही देर में बाबा चलने को तैयार थे । उन्हें तैयारी के लिए करना ही क्या था । न कोई स्नान-ध्यान, न कोई पूजा-अर्चना । भोला उठाया और चल दिए ।

‘अभी दो-एक दिन और ठहरते बाबा !’ सुशीला ने अनुरोध के स्वर में कहा, ‘‘आप आते हैं तो लगता है कि मेरे मायके का कोई ऐसा व्यक्ति आ गया है, जो इनके ससुराल का नहीं है ।’’

बाबा ने औचक दृष्टि से सुशीला को देखा, ‘‘पहेलियां बुझा रही हो विटिया !’’

‘‘नहीं बाबा !’’ सुशीला कुछ संकुचित हुई, ‘‘सामान्यतः पुरुष अपने ससुराल से आए लोगों के साथ एक दूरी बनाए रखता है ।...’’ या फिर ऐसे कहें कि आप हम दोनों को ही अपने सम्मिलित अतिथि भी लगते हैं और अपने-अपने पक्ष के भी ।’’

‘‘तुम दोनों का पक्ष असग-अलग है क्या ?’’ बाबा मुस्कराए, ‘‘मैं तो तुम दोनों को एक ही मान कर आता हूँ ।’’

‘‘हैं तो हम दोनों एक ही । पर एक वस्तु की भी तो विभिन्न दिशाएं होती हैं ।’’

‘‘सू बहुत समझदार है बेटी ।’’ बाबा बोले, ‘‘मन होता है कि तुम लोगों के साथ अधिक समय तक ठहर्हूँ । पर, मेरी प्रकृति मुझे कहीं अधिक ठहरने ही नहीं देती ।’’ बाबा ने इधर-उधर देखा । मुदामा आसपास कहीं दिखे नहीं, ‘‘तुम्हें एक सीख देता हूँ बेटी । उस पर विचार करना । जब जाए तो उस पर चलना ।’’

बाबा की ओर उत्सुक दृष्टि से देखती सुशीला चुप खड़ी रही ।

‘‘मुदामा को किसी भी चाकरी के लिए अधिक बाध्य मत करना । स्वाभिमानी आदमी है, और फिर उसका मन एक ओर रमा हुआ है । जिसका मन किसी एक ओर लग जाए, वह अन्य किसी काम का नहीं रहता । उसे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करने के लिए बाध्य किया जाए तो उसमें या तो विरोध जागता है, या द्वन्द्व । विरोध में वह तुम्हारे



हमारा समाज भी इसे सम्मिलित रूप से ही निभा रहा है। नर-नारी के कार्य-विभाजन में आजीविका अर्जित करने का कार्य न जाने क्यों पुरुष के हिस्से में ही आया है; या शायद मुझे कहना चाहिए कि पुरुष ने यह कार्य स्वयं ले लिया है ताकि स्त्री आर्थिक दायित्वों के साथ आर्थिक अधिकारों से भी वंचित हो जाए और परिणामतः पुरुष के अधीन रहे... मेरी बात समझ रही हो?"

सुशीला ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

"इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि नारी को यह नहीं मान लेना चाहिए कि वह आजीविका-उपार्जन के लिए सर्वथा पुरुष की आश्रित है। यदि पुरुष उसका भरण-पोषण नहीं करता, या नहीं कर सकता तो क्या वह भूखी मर जाएगी? क्या अपने लिए, और बच्चों के लिए वह उपार्जन नहीं करेगी? यदि पति रोगी हो जाए, पंगु हो जाए, तो क्या पत्नी सारे परिवार को भूखा मरने देगी?"

"बढ़ स्तिपति और होती है बाबा!"

"हां! वह असमर्थ पति का दायित्व उठाने के लिए है।" बाबा बोले, "पर कभी-कभी पति को और अधिक समर्थ बनाने के लिए भी पत्नी को सक्षम बनना पड़ता है..." बाबा कुछ रुककर मुस्कराए, "मैं तो और आगे बढ़कर यह भी मानता हूँ कि अपने आर्थिक अधिकारों को प्राप्त करने और उसके माध्यम से अपनी सामाजिक-राजनीतिक स्वतंत्रता पाने के लिए भी स्त्री को अपनी आजीविका के लिए आत्म-निर्भर होना चाहिए।"

सुशीला किसी द्वन्द्व-जनित संकोच में चुप रही, फिर उसने आंखें उठा कर बाबा की ओर देखा, जैसे पूछ रही हो—'कहूँ या न कहूँ।'... अंत में जैसे स्वयं ही निर्णय कर बोली, "यदि पति को बुरा लगे? वह स्वयं को अपमानित अनुभव करे?"

"पति को बुरा लगेगा," बाबा मुस्कराए, "क्योंकि उसके अधिकारों को चुनौती दी जाएगी। उसका साम्राज्य एकछत्र नहीं रहेगा।... पर उसका बुरा लगना या तो स्वार्थवश है या संस्कारवश। ये दोनों ही बातें न्याय-संगत नहीं हैं। पत्नी को चाहिए कि वह पति को यथार्थबोध करा



दे । यथायं पर आधृत प्रेम अधिक प्रबल और स्थायी होता है ।" बाबा ने स्वर को हल्का करते हुए कहा, "पर सुदामा बुरा नहीं मानेगा । उसे मैं जानता हूँ । तर्क, उसके स्वार्थ को भी जीत सकते हैं और उसके संस्कार को भी ।"

सुशीला कुछ नहीं बोली । कुछ सोचती हुई धुपचाप खड़ी रही ।

"अच्छा बेटी ! अब मैं चला ।" बाबा ने अपना भोला उठा लिया, "सुदामा कहां गया हुआ है ?"

"वे बाहर किसी वृक्ष की छाया में बच्चों को पढ़ा रहे होंगे ।"

"और बच्चे ?"

"वे भी इन्हीं के साथ होंगे ।"

बाबा ने सुशीला के सिर पर आशीर्ष का हाथ रखा, "अपने और परिवार के गौरव की रक्षा में समर्थ बनो बेटी ।"

बाबा कुटिया के बाहर निकल कर खड़े हो गए : किस वृक्ष की छाया में पढ़ा रहा है सुदामा ?

पर इसके पहले कि वे सुदामा को ढूँढकर उन तक पहुंचते, सुदामा स्वयं ही उनके पास आ गए, "अरे ! भोला टांगकर, आप कहा चल दिए बाबा ?"

"बस अब चल रहा हूँ । तुम्हीं को देख रहा था ।"

"अभी से कैसे चले जाएंगे ?" सुदामा बोले, "अभी तो जमकर आपसे कोई दार्शनिक विवाद भी नहीं हुआ ।"

"तेरा-मेरा दार्शनिक विवाद भी कोई विवाद है ।" बाबा हँसे, "विवाद ही करना है तो किसी दार्शनिक से कर । मैं कोई दार्शनिक हूँ क्या ?"

"बाबा... !"

"अच्छा रहने दे ।" बाबा ने सुदामा की बांह पकड़ी और एक ओर चल पड़े, "चल ! थोड़ी दूर तक चलकर मुझे विदा कर आ । तुझमें कुछ शक्ति भी करनी है ।"

"तो मैं उन विद्यार्थियों को जाने को कह दूँ ।"

"जा कह दे... और बच्चे कहां हैं तेरे ?"

“शायद वन की ओर गए हों। बुलाऊं क्या ?”

“नहीं ! रहने दे। इस बार भी उन्हें कहानी नहीं सुना सका। तेरा छोटा बेटा शिकायत करेगा।”

सुदामा अपने बटुको को विदा कर लौट आए और बाबा के साथ चलने लगे। बोले कुछ नहीं। जाने, जाते समय बाबा क्या बात करना चाहते हैं।

“देख सुदामा,” बाबा बोले, “हम-तुम दोनों, कृष्ण से बढ़कर नहीं तो, कृष्ण के ही समान स्वधर्म के सिद्धांत के उन्नायक हैं। सिद्धांत एकदम ठीक है। व्यक्ति को अपना धर्म पहचानना ही चाहिए। पर एक बात है...।”

सुदामा ने बाबा की ओर देखा।

“स्वधर्म को अधिक से अधिक महत्व देते जाने के कारण मैं बहुत उच्छ्रंखल हो गया हूँ। किसी अनुशासन को नहीं मानता...।”

“तो क्या हुआ बाबा ?” सुदामा कुछ अधीर हो उठे थे।

“मेरे अपने बच्चों को आज शिकायत है कि मैंने उनका ठीक से लालन-पालन नहीं किया।”

“क्या किसी ने आपसे कुछ कहा है ?”

“हां ! पिछली बार जब मैं घर गया तो मेरी पत्नी कह रही थी कि एक-दो नहीं—मेरी सारी संतानों को यह शिकायत है कि मैं अपने स्वधर्म के चक्कर में अपने कर्तव्य और दायित्व को भूल गया। कर्तव्य का निर्वाह, स्वधर्म से नहीं विवेक से होता है। विवेक थोड़ा-बहुत बंधन और अनुशासन चाहता है। गृहस्थ होते हुए भी मेरी उच्छ्रंखलता ने, गृहस्थी के बंधन नहीं माने। मैं कभी जमकर घर पर रहा ही नहीं कि देखता कि मेरे बच्चों का लालन-पालन कैसा हो रहा है, उनकी शिक्षा-दीक्षा कैसी हो रही है।... अब मैं चाहूँ भी तो कुछ नहीं हो सकता; और अब तो दायित्व ढोने की न वय है, न सामर्थ्य, न प्रकृति...।” बाबा चुप हो गए।

सुदामा ने बाबा को परीक्षक दृष्टि से देखा, “आपका संकेत क्या मेरी ओर है बाबा ?”

“हां सुदामा ! मैं यही कहना चाह रहा हूँ। गृहस्थी के अपने दायित्व होते हैं। पति अपनी पत्नी का भरण-पोषण न कर पाए, पिता अपनी

संतान की आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाए, तो क्या यह नहीं कहा जाएगा कि वह अपने धर्म से चूक गया ?”

सुदामा चलते-चलते रुक गए ।

“बाबा ! यहां किसी पेड़ की छाया में बैठ जाएं । आप तो इतना बड़ा आक्षेप लगाकर चल दोगे और पीछे मेरा क्या होगा ? मैं क्या इतने बड़े आक्षेप का बोझ उठाए, अपना काम कर सकूंगा ?”

बाबा ने मुख से कुछ नहीं कहा, पथ छोड़, किनारे होकर एक पेड़ की छाया में बैठ गए ।

“यह आक्षेप नहीं है सुदामा । यह संकेत है । तुम्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है ।”

“पर मेरी ज्ञान-साधना ?” सुदामा ने कुछ इस भाव से बाबा की ओर देखा, जैसे उन्होंने गाली दी ही ।

“मैं ज्ञान का विरोधी नहीं हूँ ।” बाबा अपने पोपले मुख से बड़े मधुर ढंग से मुस्कराए, “तेरी-मेरी मिश्रता ही इस ज्ञान-साधना को लेकर है । मैं स्थान-स्थान पर तुम्हारी बुद्धि, परिश्रम और ज्ञान की प्रशंसा करता रहता हूँ । पर सुदामा, ज्ञान अपने-आप में ही कोई लक्ष्य ही सकता है क्या ?”

सुदामा कुछ क्षण सोचते रहे, “नहीं । ज्ञान स्वयं अपना लक्ष्य नहीं हो सकता ।”

“उसका लक्ष्य क्या है ?”

“जीवन को अधिक उच्च धरातल पर स्थापित करना ।”

“जीवन का एक अंश, ज्ञानी का अपना और उसके परिवार का जीवन भी तो है ।” बाबा धीरे से बोले, “क्या तुम अपने ज्ञान से, अपने परिवार के जीवन को थोड़े-से उच्च धरातल पर स्थापित नहीं कर सकते ?”

“बाबा । ज्ञान का लक्ष्य पैसा कमाना नहीं है । ज्ञान का यह व्यवसाय अधम कार्य है...।” सुदामा आवेश में थे ।

“यदि ज्ञान-साधना के साथ-साथ किसी अन्य व्यवसाय को नहीं चला सकते तो ज्ञान के ही किसी अंश का व्यवसाय करो । सारे आचार्य, पंडित, ज्ञानी—यही कर रहे हैं ।” बाबा की शांति, सुदामा के आवेश से

विचलित नहीं हुई।

“वे ठीक कर रहे हैं?”

“मैं ज्ञान अथवा विद्या का प्रयोजन, धनार्जन नहीं मानता।” बाबा अपने धर्म को निभाए जा रहे थे, “पर मैं बहुत सूक्ष्मता में न जाते हुए, एक मोटा-स्यूल प्रश्न पूछता हूँ—“तुम्हारे उस ज्ञान का भी क्या लाभ, जो अपने परिवार के पेट के लिए रोटी भी न जुटा पाए?”

सुदामा किकत्तंब्यविमूढ-से खड़े रह गए।

“बुरा लगा?” बाबा ने पूछा।

“धक्का लगा।”

“तुम्हें मुझे ऐसे अनघड़ प्रश्न की अपेक्षा नहीं थी।” बाबा मुस्कराए, “पर यथार्थ के प्रति स्वप्नजीवियों की आंखें खोल देना मुझे अच्छा लगता है। मैं स्वयं बहुत व्यावहारिक और जीवन में भौतिक दृष्टि से सफल व्यक्ति नहीं हूँ; किंतु इस जीवन को मैं सूक्ष्म सिद्धांतों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण मानता हूँ। जब तक देह है, देह की बाध्यताएं भी हैं। मेरी भूलों को तुम मत दुहराओ।”

लगा, सुदामा कोई निश्चित उत्तर देने की स्थिति में नहीं हैं।

“अच्छा! चलता हूँ।” बाबा बोले, “तुम अब लौट जाओ। चलते समय तुम्हारे बच्चों से मिल नहीं पाया हूँ। उन्हें मेरा प्यार देना।” बाबा ने ध्यान से सुदामा को देखा, “और यदि बहुत कठिन न हो तो एक बार अपने सत्ता कृष्ण से मिल आना—”

बाबा ने प्यार भरी हथेली से सुदामा का कंधा धपपपाया और जाने के लिए मुड़ गए।

सुदामा, मुँह से कुछ कह नहीं सके। उन्होंने चुपचाप अपने हाथ जोड़ दिए।

बाबा आंखों से ओझल हो गए तो सुदामा अपनी कुटिया की ओर मुड़े। उनकी आंखों के सम्मुख सुधीला, ज्ञान और विवेक के चेहरे घूम रहे थे। बाबा ठीक कह गए थे कि इन सबके प्रति सुदामा का दायित्व था। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति सुदामा का धर्म था। सुदामा उन्हें अपनी



करना होगा। यदि ज्ञान के मार्ग पर ही चलना था तो इस संसार को माया मानते और विवाह से दूर रहते।...पर अब वह समय बीत चुका था। विवाह उन्होंने बहुत देर से किया था, पर कर लिया था। घर में सुशोला थी, विवेक था, ज्ञान था...उन तीनों जीवों को माया कहकर, वे स्वयं को मुलावे में नहीं डाल सकते। वे जीवन का यथार्थ थे। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति सुदामा का धर्म था। द्रोणाचार्य भी इससे मुछ नहीं मोड़ सकते थे।...बाबा जो भी कहें, पर सुदामा यही मानते हैं कि द्रोणाचार्य अपनी आजीविका के लिए हस्तिनापुर गए थे...

आजीविका तो अर्जित करनी ही होगी। ब्राह्मण के लिए तो सरल उपाय यही है कि वह द्वार-द्वार भीख मागे। पर गृहस्थ होकर कोई भीख क्यों मागे? ब्राह्मण यदि समाज के लिए चिंतन-मनन का कार्य करता है तो उसके भरण-पोषण का दायित्व समाज पर है...यह सत्य है। किंतु सुदामा का आत्म-सम्मान आज तक इस बात को स्वीकार नहीं कर पाया था। भीख पर चलने वाले व्यक्ति का कोई भी सम्मान नहीं करता। सुदामा ने जितना जीवन देखा है, और जितने लोगों को जाना है, उन सबका निष्कर्ष यही है कि जीवन में स्वतन्त्र वही है, जो आत्म-निर्मर है। सबसे बड़ी आत्म-निर्मरता तो आधिक आत्म-निर्मरता है। स्वतंत्रता के लिए, चिंतन की स्वतंत्रता के लिए ही तो उन्होंने कभी कोई चाकरी नहीं की। उन्होंने स्वतंत्र बुद्धि-कर्म को स्वीकार किया। पर जब बुद्धि-कर्म से आधिक उपार्जन की बात उठती है; तो उन्होंने सदा यही पाया है कि अपनी इच्छा से, स्वतंत्र रूप से रची गई कृतियों पर उन्हें या तो थोड़ी बहुत ख्याति मिली है, या वह भी नहीं मिली। धन तो कभी नहीं मिला। हाँ! यदि वे दूसरों के आदेश पर उनकी आवश्यकतानुसार, उनकी रूचि के ग्रंथ तैयार कर दें तो उन्हें कुछ धन मिल सकता है। पर अपनी लेखनी का व्यापार तो चाकरी से भी अधम कार्य हुआ। उसमें न चिंतन की स्वतंत्रता है, न रचनाकार का सम्मान। फिर, वे यदि यही करते रहेंगे तो कभी किसी स्तरीय कृति की रचना नहीं कर पाएंगे। लोगों के आदेश पर घटिया कृतियों की रचना क्या घटिया प्रकार की चाकरी नहीं है...

तो क्या वे एक सम्मानजनक चाकरी खोज लें?...कौन सी चाकरी?

अध्यापन से अच्छी चाकरी और क्या हो सकती है...सुदामा का मस्तिष्क धम गया।

...अध्यापन तो अध्यापन है...गुरु कर्म ! वह चाकरी कैसे हो सकती है ? गुरु क्या चाकर होता है ?

गुरु तो चाकर नहीं होता...वे मन-ही-मन मुंस्कराएँ...पर अध्यापन यदि इसलिए किया जाए कि छात्रों के अभिभांगवकों से उसके प्रतिदान में आजीविका अर्जित की जाएगी, तो वह अपने-आप ही चाकरी हो गई... पर यह चाकरी ऐसी है कि जिसमें अपने सम्मान तथा स्वतंत्रता की रक्षा की जा सकती है। चार-छः बटुकों को इकट्ठा कर उन्हें शिक्षा देना और फिर राह ताकना कि वे कुछ सा दें...ग्राम के बालक हैं...क्या लाएंगे ! कोई थोड़ा अन्न ले आता है, कोई शाक-भाजी, कोई फलें। किसी के घर में कोई उरसव हो तो कोई पकवान या मिठाई ले आता है...इन चीजों की मात्रा निश्चित नहीं है, और फिर इनके अतिरिक्त भी कुछ चीजों की आवश्यकता होती है जीवन में...

यदि वे चाकरी कर लें और उन्हें प्रतिमास, एक निश्चित वृत्ति मिल जाय करे तो वे इन चिन्ताओं से मुक्त होकर, अपना क्षेप समय अपने चिंतन-मनन और लेखन-अध्ययन में लगाया करेंगे...

सहसा ही सुदामा का मन हल्का हो आया...यह बात उन्हें पहले क्यों नहीं सूझी ?...

पर चाकरी के लिए क्या वे द्वारका जाएं। जाकर कृष्ण से कहें कि मैं तुम्हारा मित्र हूँ, मुझे कोई चाकरी दो।...कितनी भ्रष्ट बात है। राजनीतिक सत्ताओं के उतार-चढ़ाव के साथ जब लोग अपने संबंध, संपर्क, जाति अथवा क्षेत्र के आधार पर लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं तो सुदामा उन्हें धृणित दृष्टि से देखते हैं। राजकीय नियुक्तियां योग्यता के आधार पर होनी चाहिए, राजनीति के आधार पर नहीं। उन्होंने सदा यही चाहा है कि शासक के आसपास के लोग अपना दायित्व समझें, अपना स्वार्थ भुला कर प्रयत्न करें कि शासक को सुशासन में सहयोग दें। पर होता उसका उलटा है।

शासक जो भी हो, उसके निकट संबंधी और मित्र शासकों की जड़ों

में स्थापित न्याय को खाने लगते हैं। परिणामतः शासन की जड़ में से न्याय लुप्त हो जाता है। अन्याय, यथार्थ और पक्षपात पर आधृत शासन प्रजा का हितकारी कैसे हो सकता है? ...

सुदामा, किस मुंह से कृष्ण के पास जाएं और कहें कि उनकी मंत्री के भूत्य-स्वरूप उन्हें राजकीय गुरुकुल में कोई नियुक्ति दी जाए? ... सुशासन में कृष्ण की कोई सहायता करने के स्थान पर, उसे भ्रष्टाचार की ओर प्रवृत्त करें? सुदामा कितने भी योग्य हों, किंतु प्रजा का बच्चा-बच्चा यही कहेगा और मन से विश्वास करेगा कि सुदामा को मंत्री के आधार पर नियुक्त किया गया है ... सुदामा के मन में कितनी ग्लानि होगी ... और अपने साथ-साथ वे अपने मित्र कृष्ण के नाम पर भी अपवाद लगाएंगे। कृष्ण की लोकप्रियता में कमी होगी। प्रजा के मन में उसके सम्मान का आसन नीचा हो जाएगा। ... नहीं! सुदामा स्वार्थ के लिए, अपने मित्र के पक्ष की बलि नहीं देंगे। यह उन दोनों के लिए ही सुखद नहीं होगा ...

पर चाकरी किसी और गुरुकुल में भी तो हो सकती है ... अपने ही ग्राम में या उसके निकट, कोई गुरुकुल स्थापित किया जा सकता है। न सही द्वारका के राजकीय गुरुकुल के समान साधन-सम्पन्न; पर साधना-सम्पन्न तो वह ही हो सकता है। यहां भी इतने लोग रहते हैं। उनके भी बच्चे हैं। सुदामा अपने घर पर बटुकों को शिक्षा देते हैं, तो उसी का एक व्यापक रूप, गुरुकुल क्यों नहीं हो सकता। उसकी व्यवस्था सुदामा के हाथ में न हो, ग्राम-प्रमुख के हाथ में हो। अनेक ग्रामों का सहयोग लेकर, गुरुकुल की स्थापना हो तो ग्राम-प्रमुखों की परिपक्व उसकी व्यवस्था देख सकती है। शिक्षा की आवश्यकता केवल द्वारका के नागरिकों के बच्चों को ही नहीं है, ग्रामवासियों के बच्चे भी दर्शन, साहित्य, उद्योग और व्याकरण का अध्ययन कर, अपने जीवन को सुधार सकते हैं। अपनी इस विद्या के आधार पर ही तो नागरिक स्वयं को ग्रामीणों से श्रेष्ठ समझते हैं। सुदामा, ग्रामीणों को नागरिकों के समान घरातल पर लां खड़ा करेंगे। वे ग्रामीणों की हीनता के कारण को ही समाप्त कर देंगे। ग्राम के प्रत्येक कुटीर में उपनिषदों के मंत्र गुंजेंगे। और साहित्य का रंग बहेगा ... ऐसी चाकरी तो चाकरी भी नहीं लगेगी।



## चार

ग्रामप्रमुख ने कुछ विचित्र दृष्टि से सुदामा को देखा : यह निर्धन ब्राह्मण उन्हीं के ग्राम का वासी है—वे जानते थे । अनेक बार मार्ग में या किसी उत्सव-ममारोह में उससे मॅट हुई थी । राम-राम भी होती ही थी । सुदामा ने कभी उनका अपमान नहीं किया था ; जब भी मिला, बड़ी नम्रता और शालीनता से मिला । पर यह ब्राह्मण निर्धन होने पर भी कभी उनके द्वार पर नहीं आया था । न निर्लज्ज चाटुकारिता के लिए, न अवसर पाकर उनमें संपर्क बढ़ाने के लिए । इसलिए ग्रामप्रमुख को सदा यही लगा था कि सुदामा उनकी अवहेलना करता है ।

आज सुदामा को अपने द्वार पर आया देख, ग्रामप्रमुख असमंजस में पड़ गए । एक निःस्वार्थ और स्वाभिमानी ब्राह्मण को अपने घर में अतिथि रूप में आया समझकर स्वयं को धन्य मानें, या सदा अपनी अवहेलना करने वाले इस कंगले को अपनी और उसकी ठीक-ठीक स्थिति समझा दें ? ...

सुदामा को अपना स्वागत एक विद्वान् पंडित के अनुकूल न लग कर, एक याचक के समान ही लगा ; यद्यपि अभी ग्रामप्रमुख को उनका उद्देश्य ज्ञात ही नहीं था । सुदामा का मन बुझ गया—याचना तो याचना ही है, चाहे अपने भूखे पेट के लिए ही या सारे ग्राम-प्रांतर की अगली पीढ़ी के उत्थान के लिए । ...पर अभी तो यह व्यक्ति जानता ही नहीं है कि वे आए किसलिए हैं ।

तो क्या शासक, चाहे छोटा ही या बड़ा, अपनी प्रजा से इसी प्रकार उपेक्षापूर्ण व्यवहार करता है ? यह तो मात्र ग्रामप्रमुख ही है, शूरकुल का नायक, यादव श्रेष्ठ कृष्ण, अपने प्रासाद में आए, सामान्य जन से कैसे मिलता होगा ? ...कृष्ण, उनका सहपाठी और मित्र था तो यह ग्रामप्रमुख भी तो उन्हीं के ग्राम का वासी है । क्या इससे उनका संबंध,

कृष्णसे भी अधिक निकटता का नहीं है ? कहां ऋषियों की कल्पना है कि विद्वान् चक्रवर्ती राजाओं के दरवार में भी सम्मानजनक, उच्च आसन पाएं, और कहां यह साधारण ग्रामप्रमुख उनकी अवज्ञा कर रहा है... पर अब आ ही गए हैं तो सोट जाने का कोई कारण नहीं था ! अब तो बात कर ही लेनी चाहिए..."

"आर्य !"

"मुझे ग्रामप्रमुख कहो !"

सुदामा कुछ अटपटा गए। यह व्यक्ति एक क्षण के लिए भी नहीं झूल सकता कि यह ग्रामप्रमुख है; और दूसरे व्यक्ति को भी याद दिलाए रखना चाहता है। यह व्यक्ति एक पद पर नहीं बैठा है, वह पद ही इसके सिर पर बैठा हुआ है। यह व्यक्ति नहीं है, इसलिए 'आर्य' नहीं है, पद है, इसलिए 'ग्रामप्रमुख' है।

"ग्रामप्रमुख महोदय !" सुदामा अपने आवेश को दबा, स्वयं को संतुलित करते हुए बोले, "राजधानी में एक गुरुकुल है, जहां बड़े-बड़े विद्वान्, चिंतक, विचारक रहते हैं और बालकों को शिक्षा देते हैं। मैं चाहता हूँ कि हम अपने ग्राम में भी, वैसा ही एक गुरुकुल स्थापित करें..."

"कल को तुम कहोगे," ग्रामप्रमुख ने सुदामा की बात, बीच में ही काट दी, "कि राजधानी में यादवध्वंश धीकृष्ण रहते हैं, इसलिए एक श्रीकृष्ण यहां भी होने चाहिए !"

सुदामा ने ग्रामप्रमुख की ओर देखा : यह व्यक्ति व्यर्थ ही क्यों उन्हें अपमानित करने का प्रयत्न कर रहा है ?

"नहीं ! ऐसा नहीं कहूंगा।" सुदामा धीरे से बोले, "पर खैर... यायद मैंने बात गलत ढंग से आरंभ की है।"

ग्रामप्रमुख कुछ नहीं बोला। वह उन्हें देखता रहा।

"मैं यह कहना चाहता था," सुदामा बोले, "जहां कहीं भी लोग रहते हैं, वहां उनके मानसिक विकास के लिए, उन्हें जीवन के उच्चतर घरातल से परिचित कराने के लिए, शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता होती है। हमारे ग्राम और आसपास के ग्रामों में कोई परठशास्त्रा अथवा गुरुकुल नहीं है। क्यों न हम यहां एक अच्छे गुरुकुल की स्थापना करें ? ..."

लिए गुरुकुल खोल रखा था ? कृष्ण ने क्या अपनी वृत्ति के लिए गुरुकुल स्थापित किया है ? यह ग्रामप्रमुख क्या जन-कल्याण की कृष्ण से भी अधिक समझता है...'

उन्हे लगा, उनकी आत्मा मे पर्याप्त बल आ गया है । पूर्णतः आश्वस्त स्वर मे बोले, "यह योजना प्रजा के कल्याण के लिए है ।"

ग्रामप्रमुख ने उन्हें बड़ी कठोर दृष्टि से देखा, "हमारे प्रजाजन या तो खेती करते है या व्यापार । तुम बताओ कि तुम्हारे दर्शन, काव्य और व्याकरण से उन्हे क्या लाभ होगा ? उनकी उपज में वृद्धि होगी या उनके व्यापार का विकास होगा ।" ग्रामप्रमुख ने क्षण भर रुककर उन्हें देखा और फिर स्वयं ही बोला, "तुम्हारी विद्या हमारे किसी काम की नहीं है । तुमसे तो वे ब्राह्मण अच्छे है, जो अपने-आपको बहुत विद्वान् नहीं मानते और हमारा पुरोहित-कर्म करते है । वे पूजा-पाठ की हमारी वैदिक आवश्यकताएं पूरी करते है । तुम्हारी विद्वत्ता हमारे जीवन का अंश नहीं है । तुम और तुम्हारी विद्या किसी और लोक की वस्तु है । हम नहीं चाहते कि उसकी जड़ें हमारी भूमि में फैलें ।"

"क्यों ?" सुदामा हृषके-बृषके खड़े थे ।

"क्योंकि हमारा जो बच्चा, तुम्हारी इस अलौकिक विद्या के सपर्क मे आ जाएगा, वह हमारे काम का नहीं रहेगा ।" ग्रामप्रमुख ने अपना क्रोध प्रकट कर दिया, "तुम्हारी इस विद्या की कृपा से मैंने अनेक घर ध्वस्त होते देखे हैं । जो लड़का, तुम्हारा दर्शन, काव्य और व्याकरण पढ लेता है, वह केवल ग्रंथों का उत्पादन करता है । अन्न और धन का उत्पादन उसे घटिया काम लगने लगता है । वह अपने पशुओं की सेवा करने के स्थान पर विद्वानों की सेवा करना चाहता है । वह अपने खेतों में हल चलाने के स्थान पर, विचारों की खेती करने लगता है । दुकान पर बैठकर माल खरीदने और बेचने के बदले, वह किसी गोष्ठी मे बैठकर विचारों का आदान-प्रदान करने लगता है । अंततः वे सारे लड़के ग्राम छोड़ कर भाग जाते हैं ।" ग्रामप्रमुख का आवेश कम नहीं हुआ था, "तुम्हारी विद्या हमारे किसी काम की नहीं है । यह तो ग्राम-विरोधिनी है । ऐसी विद्या या तो नगरों के काम की है, या वन्य-आश्रमों के काम की । हमारे लिए तो इतना

ही पर्याप्त है कि हमारे बच्चों को कुछ अक्षर-ज्ञान हो जाए और कुछ अंक-ज्ञान। हां ! खेती और व्यापार को सुचारु व्यवस्था देने की कोई शिक्षा हो तो हमसे बात करो।” ग्रामप्रमुख ने रुककर सुदामा को देखा और फिर जैसे निष्कर्ष सुनाता हुआ, शब्दों को चबा-चबा कर बोला, “और यदि कभी किसी चमत्कार से ऐसा कोई गुरुकुल यहां स्थापित हो भी गया तो उसके लिए आचार्य तथा कुलपति राजधानी से आएंगे। गांव-गंवई के अध्यापक नहीं रखे जाएंगे।”

इस बार सुदामा ने एकदम नई दृष्टि से ग्रामप्रमुख को देखा : यह तो शिक्षा-क्षेत्र का कोई मौलिक चिंतक है। केवल सुदामा से नहीं, वह तो समस्त विद्वत् जन से रुट्ट मालूम होता है। उसके तर्क उतने निस्सार नहीं थे, जितने सुदामा ने सोचे थे। वे तर्क उनके ज्ञान के सामने गंभीर प्रश्न-चिह्न लगा रहे थे। उनके विषय में सोचना होगा...

सौटते हुए सुदामा के पग बहुत भारी थे। जिस योजना को लेकर वे ग्राम-प्रमुख के पास गए थे, वह किन्हीं धुंधलकों में खो गई थी। उनके सम्मुख ज्ञान और जीवन के संबंध में अनेक नये प्रश्न उठ आए थे। सुदामा के लिए आजीविका के प्रश्न को सुलझाने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण ज्ञान संबंधी इन प्रश्नों को सुलझाना था...

यदि ग्रामप्रमुख का तर्क वे अपने ऊपर ही आरोपित करते हैं, तो उसकी बात सच्ची प्रमाणित हो जाती है। पीढ़ियों से ज्ञान की साधना करने वाले पूर्वजों की योग्य संतान, गुरु सादीपति के मेधावी छात्र और स्वयं योगीश्वर कृष्ण के सहपाठी सुदामा, आज अपने ज्ञान से, अपने परिवार के पोषण के लिए न्यूनतम द्रव्य प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं तो सचमुच संसार में रहने के लिए, इस ज्ञान का क्या महत्त्व है कि ब्रह्म निराकार है या साकार। जीव और ब्रह्म के मध्य माया है या नहीं। माया का स्वरूप विद्या-माया है या अविद्या-माया। इन समस्याओं और प्रश्नों के समाधानों और उत्तरों से इस भौतिक जीवन की रक्षा के लिए कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। ग्रामप्रमुख ने सच ही कहा है कि दूसरी ओर वे विद्याएं हैं, जो भूमि से अन्न उपजाती हैं, खनिज प्राप्त करती हैं, प्रकृति से प्राप्त पदार्थों के उप-

भोग से, हस्त शिल्प के माध्यम से, अन्य उपयोगी वस्तुएं भी प्राप्त की जाती हैं। उन विद्याओं से व्यापार का विकास होता है। व्यक्ति और समाज समृद्ध होता है। ...सुदामा का ज्ञान क्या करेगा इस सारे क्षेत्र में ? उनके समाज को यदि उनकी विद्या से कोई लाभ नहीं है तो उनका समाज उन्हें कोई लाभ क्यों देगा ? ...ज्ञानी का अर्थ समाज का रक्त पीने वाला, परजीवी—अमरवेल—तो नहीं है। ज्ञानी स्वयं को समाज के लिए उपयोगी नहीं बनाएगा तो समाज उसका सम्मान क्यों करेगा ? ...जीवन का यथार्थ, जीवन के नियम बहुत कठोर हैं—वे व्यक्ति को जीवन का सत्य बड़ी क्रूरता से समझा देते हैं...

ठीक ही कहा था ग्रामप्रमुख ने ! यदि गांव के लड़के दर्शन और काव्य का अध्ययन करेंगे तो कृषि और व्यापार का संसार छोड़कर दर्शन और काव्य का संसार खोजने के लिए निकल पड़ेंगे। और ऐसा संसार तो उन्हें वनवासी ऋषियों के आश्रमों अथवा नगर के समृद्ध समाज में ही मिल पाएगा। वे लोग ग्राम की उत्पादक संस्कृति के लिए अप्रासंगिक हो जाएंगे...सुदामा ही कहा अपने गांव के लिए प्रासंगिक रह गए हैं ? ...वे बड़े काव्यात्मक भाव से पौधों में खिले फूलों को निहार सकते हैं। कभी मन चाहे तो वृक्षों में दो-चार लोटे पानी भी डाल सकते हैं; किंतु यदि उनसे अपेक्षा की जाए कि वे खेतों में हल चलाएंगे या विभिन्न ऋतुओं का शीत-ताप सहकर शारीरिक श्रम करते रहेगे तो यह उनके लिए संभव नहीं है। व्यापार नाम का काम तो वे कर ही नहीं सकते। ...

तो फिर क्यों लोग शताब्दियों से दर्शन की गुत्थियां सुलझाने में लगे हुए हैं ? ऐसा तो संभव नहीं है कि समाज के लिए यह सर्वथा अनुपयोगी हो और समाज के निरंतर और अनवरत असहयोग के बावजूद यह चिंतन लगातार चलता रहा हो...

सुदामा को लगा कि उन्हें दर्शन और अध्यात्म को अलग-अलग करके देखना चाहिए। दर्शन तो केवल भावात्मक चिंतन नहीं करता। वह तो मृष्टि के भौतिक पदार्थों का भी परीक्षण करता है और उनके सत्य को भी खोज निकालता है। समस्त चिंतन तो व्यर्थ और निस्तार नहीं हो सकता। चिंतन के अभाव में आयुर्विज्ञान का विकास कैसे होता ? कृषि की

पदार्थों का अनुमंथान कैसे होता ? विभिन्न अन्नों तथा राद्य-पदार्थों का ज्ञान मनुष्य को कैसे होता ? मनुष्य पशु-पालन कैसे सीखता ? आत्म-रक्षा के लिए शस्त्रों का निर्माण कैसे होता ? गति के लिए पहिया न खोजा गया होता, तो मनुष्य वाहनों का विकास कैसे करता ? चिंतन न होता तो भूगोल, रगोल तथा ज्योतिष का ज्ञान कैसे प्राप्त होता ? ...

तो सारा आश्रय क्या केवल अध्यात्म-चिंतन के विरुद्ध ही है ? क्या अध्यात्म-चिंतन सर्वथा अनुपयोगी है ? तो फिर समाज उसका बोझ क्यों ढो रहा है ? ...

अध्यात्म के माध्यम से प्राप्त अलौकिक शक्तियों और उनके चमत्कारों में सुदामा का कभी विश्वास नहीं रहा । यदि ऐसा कुछ होता तो अपनी लंबी साधना से वे भी कुछ शक्तियां प्राप्त कर लेते और कम से कम अपनी निर्धनता दूर कर लेते । फिर न उन्हें ग्रामप्रमुख के पास जाना पड़ता और न वह उन्हें अपमानित कर पाता । सुदामा तो सुदामा ही थे... बड़े-बड़े ऋषियों के विषय में भी यही बताया जाता है कि किसी वस्तु की इच्छा होने पर उन्हें याचक बनकर, राज-दरवारों में जाना पड़ता है । यह संभव है कि अपनी साधना और निरन्तर अभ्यास से वे कार्य करने की कुछ अद्भुत विधियों का आविष्कार कर लेते हों । अपने अनवरत चिंतन से कुछ नये समाधान और सत्य पा लेते हों । अपने सूक्ष्म विश्लेषण से भाषी घटनाओं का आभास पा लेते हों । इन सब को ही क्या उनकी आध्यात्मिक शक्ति का चमत्कार कहा जाता है ? ...

इधर योग-साधन के माध्यम से कुछ अद्भुत शक्तियां प्राप्त करने का बहुत प्रचार है । कृष्ण योगीश्वर माना जाता है, पर वह भी सामान्य सैनिकों अथवा यात्रियों के समान अपना रथ जगह-जगह दौड़ाता फिरता है । अपने शत्रुओं के साथ, साधारण क्षत्रियों के समान युद्ध करता है । उसके राज्य में भी, उत्पादन के लिए अन्य राज्यों के समान मनुष्य श्रम करना है । यहाँ भी व्याय-अन्याय, स्वार्थ-परमार्थ, उचित-अनुचित का संपर्क वैसे ही चल रहा है, जैसे अन्य राज्यों में । कृष्ण की योग शक्ति ने किसी चमत्कार का प्रदर्शन नहीं किया है । हां ! शारीरिक और मानसिक व्यायाम के रूप में इसने उसकी कार्य-क्षमता को अद्भुत रूप से बढ़ा अवश्य

दिया है। वह अस्वस्थ नहीं होता, आलस उसे छूता नहीं उसमें कभी ऊर्जा का अभाव नहीं होता।...जितना कार्य वह करता है, और जितनी समस्याओं का समाधान उसके माध्यम से होता है, उतना और किसी के बस का नहीं है..."

पिछले दिनों एक योगीराज ने बहुत शोर मचाया था कि वे अपनी योग-शक्ति से पानी पर चलकर दिखाएंगे। सुदामा तो देखने गए नहीं थे, पर उड़ाया यही गया था कि एक बड़ा नाला उन्होंने पानी पर चल कर पार किया था। पहले तो सुदामा की बुद्धि इस तथ्य को स्वीकार ही नहीं करती कि सचमुच ऐसा कुछ हुआ होगा। प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय और त्रिकाल-सत्य हैं। उनकी न कोई अवहेलना कर सकता है और न वे किसी का कोई विशिष्ट अधिकार मानते हैं। इसलिए प्रकृति में चमत्कार नहीं होते...प्राकृतिक सत्य है कि पानी से हल्की वस्तु उस पर तैरती है और भारी वस्तु उसमें डूब जाती है। मनुष्य पानी से भारी होता है, इसलिए वह पानी में डूब जाता है; किन्तु यह भी प्राकृतिक सत्य है कि मनुष्य ने पानी में तैरने के सिद्धांत खोज निकाले हैं। ये सिद्धांत और कुछ भी नहीं है, सिवाय इसके कि मनुष्य ने स्वयं को पानी से हल्का बनाए रखने की पद्धति खोज निकाली है। यहां प्राकृतिक सत्यों में कोई विरोध नहीं है, इसलिए इसमें कोई चमत्कार भी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति कोई ऐसा ही प्राकृतिक नियम खोज निकालता है, जिसमें वह खड़ी अवस्था में भी पानी में तैर सकता है, तो वह एक नया आविष्कार हो सकता है, उसमें कोई चमत्कार नहीं है..."

सहसा सुदामा के मन में एक दूसरा तर्क आया...और यदि यह मान भी लिया जाए कि किसी व्यक्ति ने वर्षों की साधना के पश्चात् कोई ऐसी पद्धति पा ली है, जिससे वह नदी पार कर सकता है तो उससे क्या...कोई भी नाविक अपनी नाव पर जितने लोगों को चाहे, बारी-बारी नदी पार करा सकता है। उस आध्यात्मिक शक्ति से कहीं उपयोगी वह भौतिक शास्त्र है, जो किसी भी व्यक्ति को किसी भी समय नदी पार करा सकता है..."

तो फिर यह सारा आध्यात्मिक चिंतन क्या है? मात्र कुछ कल्पना-

जीवियों की कपोल कल्पना या सामान्य जन को धोखा देने का प्रयत्न ? ...  
या जीवनी शक्ति की कमी के कारण, संसार के संघर्षों से पलायन का  
प्रयत्न ?

मुदामा चौक उठे । यह कैसी बात मन में आई है ? ... यदि चमत्कारों,  
आध्यात्मिक शक्तियों तथा साम्प्रदायिक कर्म-कांडों को दूर कर सोचा जाए  
तो क्या अध्यात्म मानव के मन को निर्मल और उदात्त नहीं करता ?  
क्या यह कुछ अटल प्राकृतिक सत्यो और नियमों को खोजकर, मनुष्य को  
उनका सामना करना नहीं सिखाता ? क्या यह सत्य नहीं है कि पशु धरा-  
तल पर जीना, मनुष्य के लिए शोभनीय नहीं है — उसे विवेक के धरातल  
पर जीना चाहिए । क्या यह भौतिक सत्य नहीं है कि मनुष्य में एक जीवनी  
शक्ति है, जिस आत्मा कहते हैं । और जीवनी शक्ति के रहते भर मनुष्य  
जीवित रहता है और उसके समाप्त होते ही, यह सृष्टि उस मनुष्य के लिए  
समाप्त हो जाती है और वह मनुष्य इस सृष्टि के लिए समाप्त हो जाता  
है । फिर वह आत्मा कहां जाती है, कौन जानता है । पदार्थ तो अपना रूप  
बदलते हैं । हिम, जल बन जाता है, जल वाष्प बन जाता है, और वाष्प  
फिर से हिम या जल बन जाता है । लरुड़ी कोयला बनती है, कोयला  
राख ... क्या वैसे ही यह जीवनी शक्ति अपना रूप बदलती है और हम  
उसे पहचान नहीं पाते ? ...

फिर यह जीवनी शक्ति तो सब मनुष्यों में है; सब प्राणियों में है :  
सब वनस्पतियों में है । कौन जानता है कि भविष्य में मनुष्य यह भी खोज  
निकावे कि जिन पदार्थों को आज हम निष्प्राण कहते हैं, उनमें भी जीवनी  
शक्ति है । कहीं घरती अन्न उपजाती है और कहीं वह बंजर होती है,  
वंश्या । कोई पर्वत हरा-भरा होता है और किसी पर घास की एक पत्ती  
भी नहीं होती । क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मिट्टी का कोई टेर जीवित  
हो और कोई मृत । किसी पहाड़ में जीवनी-शक्ति हो और किसी में न  
हो । ... जहां तक यह जीवनी-शक्ति है, वहां तक तो सब जीव एक ही हैं ।  
मम में एक जैसे प्राण हैं । आग और आग में क्या भेद है ? पानी और  
पानी में क्या अंतर है, सिवाय इसके कि किसी में अन्य पदार्थ धुले हुए हैं,  
किसी में नहीं ...



तो सब जीवों में आत्मा तो एक ही हुई। क्या उन आत्माओं की समग्रता को हम परमात्मा नहीं कह सकते? समस्त जीवनी शक्ति की समग्रता को कोई नाम नहीं दिया जा सकता? ...प्रकृति या...

पर परमात्मा का यही रूप तो नहीं माना जा सकता। और भी अनेक रूप माने जाते हैं। क्या उसके रूप को किसी ने देखा है? ...सुदामा को लगा, इसके आगे तो दर्शनशास्त्र, विभिन्न सिद्धान्तों में बंट जाता है। विवाद का क्षेत्र यहीं से आरम्भ हो जाता है। ...पर सुदामा तो ज्ञान-मार्गी हैं; और ज्ञान-मार्ग तो समग्र जीवनी-शक्ति, समग्र प्रकृति के सामूहिक रूप को ही ब्रह्म मानता है...

क्या ब्रह्म का यह स्वरूप समाज के लिए उपयोगी नहीं है? क्या वह एक सामाजिक दर्शन का रूप ग्रहण नहीं करता? जब प्रत्येक जीव की जीवनी-शक्ति एक निश्चित अवधि तक ही चल पाएगी, किसी भी जीव की जीवनी-शक्ति अनन्त काल तक नहीं चल पाएगी, तो मनुष्य इस प्रकृति को अपने लिए या अपने ही लोगों के लिए क्यों आरक्षित कर लेना चाहता है? वह क्यों नहीं समझता कि प्रकृति का धन उन सब जीवों के भोग के लिए है, जो इस प्रकृति ने उत्पन्न किए हैं। सब को अपनी आवश्यकता भर, प्राकृतिक धन लेना चाहिए और उससे अधिक का सालच उन्हें नहीं करना चाहिए। ...संचय का अर्थ, दूसरे जीवों को उनके अधिकारों से वंचित करना है। संचय से हमारा क्षय होता है। हमें न अपना क्षय करना है, न अन्य जीवों का। हमें तो प्रकृति से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है और अन्य जीवों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग करना है...इसलिए भोग का अधिकार उसका है जो प्रकृति से पदार्थ प्राप्त करता है, न कि उसका जो दूसरों के श्रम का शोषण कर उत्पादन के स्थान पर संचय करता है...

समाज को एक स्वरूप ग्रहण करने के लिए किसी न किसी चिन्तन की आवश्यकता तो होगी ही। समाज के लिए चिन्तन आवश्यक है। प्रश्न यह है कि वह चिन्तन समाज में सहयोग को बढ़ा रहा है या शोषण को... और गलत चिन्तन तो स्वयं ही प्राकृतिक सत्यों से टकरा कर टूट जाएगा। जो समाज के लिए उपयोगी नहीं है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाएगा...

मुदामा की कल्पना में उनका मित्र कृष्ण आ सड़ा हुआ। कृष्ण इन बातों को बहुत पहले से समझता था। तभी तो उसने अपने बाल्यकाल में ही इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्द्धन की पूजा आरम्भ करवा दी थी। इन्द्र, वैदिक युग का एक काल्पनिक देवता था। काल्पनिक न ही तो ऐतिहासिक होगा; किन्तु वह वर्तमान का यथार्थ नहीं था। वर्तमान का यथार्थ तो गोवर्द्धन गिरि ही है। यमुना के कछारों में रहने वाली प्रजा के लिए कोई ऊंचा स्थान कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है, यह तो यमुना की एक ही याद ने सिद्ध कर दिया था। अपनी विपत्ति के दो दिन यमुना-तटवासियों ने गोवर्द्धन की ऊंचाई पर ही काटे थे। गोवर्द्धन की पूजा...मुदामा का बुद्धिवादी मन हंसा...पूजा का क्या अर्थ है...सिवाय इसके कि उस वस्तु का महत्त्व समझा जाए और उसके महत्त्व और उपयोगिता के लिए, उसका सम्मान किया जाए। पूजा के नाम पर गंगा में पुष्प और मिष्ठान्न अर्पित करने वाला व्यक्ति तो उसके जल को गन्दा ही कर रहा है; किन्तु जो व्यक्ति समझता है कि गंगा का जल यदि हिमालय की इस ओर बहने के स्थान पर, किन्हीं कारणों से हिमालय की उस ओर बह गया होता, तो गंगा-यमुना का यह मैदान मरुभूमि हो गया होता। वह व्यक्ति वास्तविक पूजा-भाव रखता है गंगा के प्रति। गंगा, मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक जल उसे देती है और अन्न उत्पन्न करने के लिए भूमि की सिंचाई करती है। तभी तो गंगा के दोनों तटों पर बड़े-बड़े नगर बस गए हैं। राज्य स्थापित हो गए हैं। उसके तटों की भूमि अत्यन्त उपजाऊ हो गई है...उसी भूमि को प्राप्त करने के लिए ही तो अनेक युद्ध होते हैं...

कृष्ण समझता था उपयोगिता की पूजा के दर्शन को। कृषि कर्म के लिए सब से उपयोगी जीव गाय को भी इसीलिए उसने पूज्य बना दिया। किन्तु जो कृष्ण परम्परा से पूज्य अनुपयोगी इन्द्र की अवहेलना कर गोवर्द्धन की उपयोगिता प्रचलित करा सकता है, वह किसी नये आविष्कार के कारण अनुपयोगी हो जाने पर गाय का सम्मान भी कम कर ही सकता है। कृष्ण वस्तुतः चिंतक है, मौलिक चिंतक, वास्तविक सामाजिक दार्शनिक...

कृष्ण के सीलाप्रिय भक्तों ने उसके राजनीतिक-सामाजिक दर्शन को

लीलाओं में बदल दिया है। यादवों का मुख्य काम गोपालन और दूध का व्यवसाय था। सुदामा नहीं जानते कि यह व्यवसाय का अतिरेक था या कंस का आतंक; पर तथ्य यही है कि ब्रज का सारा दूध मथुरा पहुँच जाता था। गोपालों के अपने बच्चों के लिए भी दूध-घी उपलब्ध नहीं था। कृष्ण ने दूध के इस विवेक-शून्य निर्यात का विरोध किया था। गोप तो फिर मान गए थे—भीरू गोपियां, कंस के क्रोध से बचने के लिए छिप-छिप कर दूध ले जाया करती थी; या उन्हें धन का मोह अधिक था। उन्हें रोकने के लिए कृष्ण को अपने मित्रों की सहायता से मटकियां तोड़नी पड़ी... इस सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष को भक्तों ने कृष्ण का विलास बना दिया...

कृष्ण ने मिले कितने दिन हो गए सुदामा को... उनके मन में कृष्ण से मिलने की इच्छा हिलोरें लेने लगी।... कभी-कभी तो ऐसा ज्वार उठता है मन में कि तत्काल चल पड़ें द्वारका की ओर। सुशीला भी धार-बार कहती है।... बाबा की भी यही इच्छा थी... पर... कृष्ण के बड़प्पन के कारण सुदामा उनसे मिल नहीं पाते। उस सामाजिक-राजनीतिक कार्य-कर्ता, उस चिंतक-विचारक और मित्र कृष्ण से मिलने की इच्छा तो होती है सुदामा की; किन्तु धूर कुल नायक, द्वारका की परिपक्व के एकछत्र सम्राट्, वैभवशाली कृष्ण—सुदामा के लिए पूर्णतः अपरिचित व्यक्ति हैं। और अब यदि सुदामा, कृष्ण से मिलने जाएंगे, तो उन्हें यादव श्रेष्ठ के पास ही जाना होगा। आश्रमवासी या गोपाल कृष्ण, अब उन्हें नहीं मिल सकता...

यदि कहीं कृष्ण आ जाता सुदामा से मिलने... सुदामा की कुटिया होती, दोनों मित्र होते और उनमें ज्ञान-योग और कर्मयोग को लेकर विवाद हो रहा होता। सुशीला थोड़ी देर, उन लोगों के पास बैठकर विवाद में भाग लेती और फिर उठकर भोजन के प्रबन्ध में लग जाती। बीच-बीच में कभी अपना मत प्रकट कर जाती और कभी विवाद समाप्त करने का अनुरोध करती। पर वे दोनों अपने तर्कों पर अड़े रहते। अपने तर्कों को प्रमाणित करते, दूसरों के तर्कों को काटते।... बाबा बतला गए हैं कि कृष्ण ने द्वारका में गुरुकुल की स्थापना की है। उसने वहाँ अनेक

दाशनिकों, चितकों, बुद्धिजीवियों को एकत्रित कर लिया है। वह उनमें बैठता है। तर्क-वितर्क करता है। पर मुदामा की यह ज्ञान-पिपासा कैसे बुझेगी। इस गंवई गांव में जहां साधारण व्यक्ति भी खोजने पर ही मिलते हैं, दाशनिक विवादों के लिए व्यक्ति कहां मिलेंगे। मुदामा के ज्ञान-क्षेत्र में कहीं सूखा न पड़ जाए...

मुदामा का मन फिर सिद्धान्तों की भीड़ में खो गया... उन्होंने अपने मन में बड़ी सुविधा से ज्ञान-सिद्धान्त को ग्रामप्रमुख के आक्रमण से बचा लिया था, किन्तु उनका अपना मन भी अनेक शंकाएं कर रहा था... ज्ञान-योग मनुष्य में वैराग्य उत्पन्न करता है। वैराग्य होने पर व्यक्ति न अधिक उत्पादन के लिए प्रयत्नशील रहता है, न प्रकृति और उसकी संपत्ति पर आधिपत्य जमाने और उसकी रक्षा के लिए। जब संसार माया है और उसके प्रति आकर्षण मोह है तो फिर व्यक्ति उसकी कामना क्यों करे? उसके लिए संघर्ष क्यों करे, कष्ट क्यों उठाए, प्राण क्यों दे? ज्ञान-जनित वैराग्य तो न्याय सिखाता है।... तो क्या त्याग हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं है? त्याग?... त्याग श्रेयस्कर तो है, पर शायद प्रकृति नहीं चाहती कि मनुष्य त्यागी बने। सम्पूर्ण मानव-समाज त्यागी और कामना-शून्य हो जाएगा तो सृष्टि समाप्त हो जाएगी। प्रकृति, सृष्टि को समाप्त नहीं होने देगी। त्यागी समाज भीतर से दुर्बल हो जाता है। उसकी प्रहारक शक्ति समाप्त हो जाती है। तब कोई दूसरा समाज उस पर आक्रमण कर देता है। उसे पराजित करता है और अपना दास बना लेता है। वह समाज, ज्ञानी और त्यागी होने के स्थान पर दास बन जाता है। अपमान सहता है। पीड़ित और शोषित होता है। भौतिक असुविधाएं सहता है। और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए तड़पता और संघर्ष करता हुआ अपना सारा ज्ञान भूल जाता है... तो क्या लाभ ऐसे ज्ञान का, जो समाज को समर्थ बनाने के स्थान पर उसे दलित और शोषित बना देता है...

क्या ज्ञान के इस दोष को दूर नहीं किया जा सकता?...

मुदामा का मन कृष्ण से मिलने को तड़प उठा। कृष्ण होता तो उससे बात करते।... इस सिद्धान्त में कहीं कोई मूलभूत दोष रह गया है...

सामने अपनी कुटिया देखकर, सिद्धान्तों की उठापटक सुदामा के मन से तिरोहित हो गई। उन्हें याद हो आया कि वे कहाँ गए थे और क्यों गए थे। ग्रामप्रमुख ने उन्हें भरसक अपमानित किया था—और अंत में क्या कहा था—यदि कभी गुरुकुल की स्थापना हो भी गई तो उसके लिए कुलपति और आचार्य राजधानी से आएंगे... द्वारका से ? क्यों ? क्या राजधानी ने राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ ज्ञान का भी ठेका ले रखा है ? विद्वान् और कही हो ही नहीं सकते ? हमारे समाज पर राजनीति क्यों इतनी छाती जा रही है ? राजनीतिक शक्ति इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है कि और किसी की कोई प्रतिष्ठा ही नहीं रह गई। ज्ञान-क्षेत्र का भी निर्णय अब राजनीति ही करेगी ? आज तो कृष्ण बैठा है द्वारका में; पर कल कोई भूखं सत्ताधारी आ जाए तो इस देश में ज्ञान-विज्ञान विद्या-अध्ययन—सबका नाश हो जाएगा। भूखों की नियुक्तियाँ आचार्यों के रूप में होगी और गुरुकुलों से भूखं स्नातकों की सेनाएं, भूखंता में प्रशिक्षित हो-होकर निकलेंगी। आवश्यक तो नहीं कि प्रत्येक शासक यह देखे कि समाज के लिए कैसा, कौन-सा और कितना ज्ञान उपयोगी होगा। अनेक शासक ज्ञान को उठाकर किनारे धर देंगे और अपने स्वार्थ के अनुकूल प्रचार को ही ज्ञान का नाम देंगे।

सुदामा ने पहले कभी नहीं सोचा कि ज्ञान की उपलब्धि अध्ययन, चिंतन, मनन तथा साधना से ही नहीं, राजनीतिक नियुक्तियों से भी हो सकती है। यदि शासक किसी व्यक्ति को किसी गुरुकुल का आचार्य नियुक्त कर दे तो वह व्यक्ति स्वतः ही ज्ञानी मान लिया जाता है।

सुदामा को हंसी आ गई—और इस समय राजनीति का सर्वोच्च सूत्रधार कृष्ण है—सुदामा का मित्र। आज सुदामा, कृष्ण के पास चले जाएं तो वे जंबूद्वीप के सब से बड़े विद्वान् हो जाएंगे। फिर वे जिस विद्वान् को चाहें ज्ञान का सिरमौर बना दें, जिसे चाहें धूल में मिला दें। जिस ग्रन्थ की चाहें प्रशंसा कर दें, और जिसकी चाहें—उपेक्षा कर दें। राजनीतिक विद्वान् होकर जिस भूखं को चाहें पुरस्कृत कर दें और जिस पंडित को चाहे वंचित और अपमानित कर दें...

यह क्या सोचने लगे सुदामा ?

राजकीय पंडित होकर तो कोई भी यही सोचेगा। यह सब सुदामा ने नहीं सोचा था, यह सब तो राजनीतिक महत्त्व पाए हुए एक मूल्य ने सोचा था, जो समझता है कि वह, राजसी महत्त्व से ज्ञान के क्षेत्र में उथल-पुथल मचा देगा और विद्वानों, विचारकों, लेखकों को अपने दासों-परिचारकों के समान उन्नत-अवनत करता रहेगा। राजनीतिक स्वामियों से महत्त्व पाकर, वह यह भूल जाता है कि राजा को तो दस-बीस वर्ष रहना है, पर पुस्तक को सहस्रों वर्ष जीना है। अल्पकालीन महत्त्व के लिए ज्ञान को कलंकित नहीं किया जा सकता।... सुदामा ज्ञान की गरिमा को समझते हैं। वे न स्वयं को अपमानित करेंगे, न कृष्ण को कलंकित।

“वया बात हुई?” सुशीला ने पूछा।

“कुछ विशेष नहीं।” बैठकर सुदामा अंगोछे से अपना मुह-माथा पोंछते रहे।

“शुशकुल की स्थापना की बात की?”

“हां! मैंने तो की।” सुदामा धीरे से बोले, “पर ग्रामप्रमुख को रुची नहीं।”

“तो वह नहीं हो सकेगा?”

“नहीं।”

“तो कैसे चलेगा?”

“जैसे अब तक चलता आया है।” सुदामा ने स्थिर कंठ से कहा।

## पांच

सुदामा कही जाने को तैयार हो रहे थे। तैयार होने को बहुत कुछ नहीं था। न स्नान से पहले वे उबटन मलते थे; न बहुत से लेप लगाने की थे; न स्नान के लिए बहुत सारी सुगंधियों का प्रयोग करना था। धारण करने के लिए आभूषण भी नहीं थे। केश-संज्ञा से भी उन्हें कोई विशेष प्रेम

नहीं था; घर में उसके लिए पर्याप्त उपकरण भी उपलब्ध नहीं थे। उन्हें तो काजल तथा तंबूल का भी कोई चाव नहीं था। प्रसाधन सामग्री के नाम पर जब सुशीला के लिए ही कुछ नहीं था तो सुदामा...; फिर तैयार होने में बहुत समय क्या लगना था। बस, शरीर पर दो गागर पानी ही तो उंडेलना था और गीली धोती को सूखी धोती से बदल लेना था—

किन्तु फिर भी एक ही दृष्टि में सुशीला समझ गई थी कि वे कही जाने वाले थे। जिस दिन उन्हें कही बाहर जाना होता, वे अपने ग्रन्थ समेट कर एक ओर रख देते थे। ताल-पत्रों को बांध देते थे। उनकी संध्या-उपासना, चिंतन-मनन में एक प्रकार की त्वरा आ जाती थी। उनकी स्थिरता, हल्की-सी चंचलता में बदल जाती थी।

वे कुछ अधिक ही उत्साहित लग रहे थे। एक प्रकार की उत्तेजना उनके अंग-प्रत्यंग से आभासित हो रही थी। सुदामा के साथ ऐसा कभी-कभार ही होता था। वे बहुत गतिशील नहीं थे। स्वभाव से अभ्रमणशील और घर-घुस्सू ही थे। पर, अध्ययनशील प्राणी तो ऐसा ही हो सकता है—सुशीला सोचती—यदि वे दिन भर घूमते-फिरते रहेंगे, लोगों से मिलते-जुलते रहेंगे और उस मेल-जोल के परिणामस्वरूप, घर पर भी लोगों का आवागमन लगा रहेगा, तो वे अध्ययन कब करेंगे और चिन्तन-मनन कब होगा। सुशीला को सुदामा की असामाजिकता से कोई शिकायत नहीं थी। अच्छा ही है कि सुदामा घर-घुस्सू थे; अन्यथा घर पर आने वाले अतिथियों का सत्कार करने के साधन कहा से आते...

सामान्यतः जब कभी उनके कही जाने की बात उठती तो वे मना कर देते और कभी जाना ही पड़ता, वे भरसक उसे टालने रहते; और जब टालना असंभव हो जाता तो उनके मन की स्थिरता नष्ट हो जाती। एक प्रकार की व्याकुलता उन्हें घेर लेती। वे जाने की तैयारी भी करते रहते और मन-ही-मन अपने-आप से लड़ते भी रहते। थोड़ी देर में मन की खीझ उनके व्यवहार में भी प्रकट होने लगती...

ऐसा तो कभी-कभार ही होता था कि सुदामा उत्साह से कही जाएं। जब कभी लगता था कि बाहर जाकर ही उनका लाभ है; वह उनकी ऊर्जा का अपव्यय नहीं है, तब ही बाहर निकलने के प्रति उनका प्रतिरोध

समाप्त होता था..."

आज अपनी इस तैयारी की अवधि में सुदामा की मगन-सी मुद्रा, और बीच-बीच में आत्म विस्मृति की-सी अवस्था में किसी श्लोक को गुनगुना उठना—उनके उत्साह को प्रकट कर रहा था।

जब लगा कि सुदामा अब चल ही देंगे तो सुशीला से नहीं रहा गया, "श्रेष्ठि धनदत्त के पौत्र के मुंडन के उत्सव में जा रहे हैं?"

सुदामा ने आहत दृष्टि से सुशीला की ओर देखा, "ऐसा कोई निमंत्रण है क्या?"

प्रश्न और प्रतिप्रश्न से दोनों के मन का बहुत कुछ अटकना भी स्पष्ट हो गया।

"अभितगत निमंत्रण तो नहीं है, पर..." वह बोली, "प्रत्येक ब्राह्मण परिवार को निमंत्रित किए जाने की डोडी पिटी है।"

"सुदामा भिलारी नहीं है।"

"भिलारी का क्या अर्थ?" सुशीला का स्वर कुछ आवेशपूर्ण हो गया, "यही परम्परा है। श्रेष्ठि ने सारे ब्राह्मण परिवारों को आमंत्रित किया है। लोग सपरिवार जाएंगे, भोजन करेंगे, श्रेष्ठि के पौत्र को आशीर्वाद देंगे, दक्षिणा पाएंगे।"

सुदामा के चेहरे पर धितृष्णा जागी।

"आप यह न करें।"

"तो?"

"आपके जाने से श्रेष्ठि प्रसन्न होंगे। उन्होंने कई बार ऐसा भाव प्रकट किया है। उनके पास पचासों प्रकार के काम-धंधे हैं।" सुशीला दृढ़ी, "आखिर विद्वानों को भी आजीविका की आवश्यकता तो होती ही है।"

सुदामा का चेहरा मलिन हो गया, "संसार में एक श्रेष्ठि धनदत्त ही तो नहीं है—श्रेष्ठियों और सामन्तों को आशीर्वाद देकर, उनकी चाटुकारिता में थोड़ा समय बिताने से ही सुदामा धनियों में गिना जाने लगेगा।" सुदामा ने रुककर क्षण भर सुशीला को निहारा, "हीन-बुद्धि और हीन-ज्ञान तुच्छ ब्राह्मणों के समान, हाथ उठा-उठाकर धनियों को



आशीर्वाद देता सुदामा क्या तुम्हें अच्छा लगेगा। अपने पति का यही रूप देखना चाहती हो?"

"यहां आपकी विद्वत्ता का मूल्य समझने वाला कौन है? ..."

सुदामा को लगा, उनसे ज्यादाती हो गई है... ठीक कहती है सुशीला... जो सुदामा चाहते हैं, वह यहां उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध है, वह सुदामा लेना नहीं चाहते।... किन्तु निरक्षर अथवा अर्द्धशिक्षित भूढ़ ब्राह्मणों के समान, अपनी जाति को बेच खाना... यही करना था तो यह जीवन, ग्रन्थों और विद्वानों को अर्पित करने का क्या लाभ? गुरु सांदीपनि के आश्रम तक जाकर, अपने जीवन के बहुमूल्य वर्ष, कठिन तपस्या में बिताने का क्या अर्थ? ... आशीर्वाद के दो-चार श्लोक, लोगों के विवाह, मुण्डन तथा यज्ञोपवीत संस्कार... या फिर किसी मन्दिर में पुजारी बनकर बैठ जाते—ग्रामप्रमुख ने यही तो कहा था कि वे कर्मकाण्डी ब्राह्मण उनके अधिक काम के थे...

पर सुशीला... गृहस्थी भी एक तपस्या है। स्वाभिमान का हनन, अपने सिद्धांतों के विरुद्ध समझौता...

"तो कहाँ जा रहे हैं?" सहसा सुशीला ने पूछा ॥

सुदामा की नींद टूटी।

"नगर में आचार्य ज्ञानेश्वर पधारे हैं।" सुदामा का स्वर अनायास ही उल्लसित हो उठा, "आचार्य ज्ञानेश्वर के दो-एक ग्रंथ मैंने देखे हैं। जटिल गुरिपयो को सुलझाने की चामत्कारिक प्रतिभा है उनमें। उनके मुख से उनके विचार सुनना एक अद्भुत अनुभव होगा।" सुदामा की आँखों में चमक आई, "अपने नये ग्रन्थ के कुछ अध्याय साथ लिए जा रहा हूँ। संभव हुआ तो आचार्य को सुनाऊंगा, उनकी प्रतिक्रिया पाकर मुझे बहुत लाभ होगा। आगे के अध्याय लिखने में सहायता मिलेगी।" सुदामा का स्वर भाव-विह्वल हो उठा, "तुम जानती ही हो सुशीला। आचार्य ज्ञानेश्वर ने भक्ति-योग पर अनेक ग्रंथों की रचना की है। मैं ज्ञान-योग संबंधी अपने विचार उनके सामने रखूँगा। कुछ विचार-विमर्श भी होगा ही। संभव है, कृष्ण के कर्मयोग की भी चर्चा हो जाए।... कई बार वर्षों का अध्ययन भी, उन धुँडियों को नहीं खोल पाता, जिन्हें विद्वानों की कुछ क्षणों की संगति

खोल देती है ।...”

सुदामा शायद अभी कुछ और भी कहते; किंतु सुशीला ने उसकी प्रतीक्षा नहीं की। बोली, “आप वही जाएं प्रिय ! ऐसे विद्वान् कब-कब मिलते हैं।”

“दुर्लभ अवसर है।” सुदामा अपनी उमंग में बोले, और अपने लिखे हुए कुछ ताल-पत्र समेटने लगे।

सुशीला के मन में आया, कहे, ‘जाओ प्रिय ! तुम बने ही किसी और मिट्टी के हो। गृहस्थी और आजीविका...ये समस्याएँ, तुम्हारे लिए नहीं हैं।’ पर उसने स्वयं को रोक लिया। उसकी कल्पना में गृहस्थी की चिंताओं को ले, पति का अपने-आप से संघर्षरत, दुख से मलिन रूप; तथा आचार्य ज्ञानेश्वर से विचार-विमर्श की चर्चा करता हुआ, उल्लसित चेहरा...दोनों साथ-साथ उभरे। वह पति को दुखी नहीं करना चाहती थी।... यह पहला अवसर नहीं था; उसने बार-बार सुदामा के इन दोनों रूपों को देखा था और बार-बार अनुभव किया था कि मछली, जल में ही जीवित रह सकती है। सुदामा को उनके ज्ञान-संसार से खींच कर व्यावहारिक जगत में लाने का प्रयत्न, उसकी मूल थी।...

नगर तक आने में सुदामा को काफी समय लगा।

आयोजन-स्थल पर की भीड़ का अनुमान उन्हें दूर से ही हो गया। ग्राम में किसी भी अवसर पर बहुत भीड़ नहीं होती थी। जनसंख्या ही कितनी थी। कोई मेला-ठेला होता तो सब लोग इकट्ठे होते थे। पर वहां खुली जगह थी। कितने भी लोग एकत्रित हो जाते, घबके-मुक्के की स्थिति नहीं आती थी। नगरों में स्थान कम होता है और लोग अधिक आ जाते हैं...

सामान्यतः सुदामा भीड़ से घबराते थे और जहां भीड़ होने की संभावना होती थी, वहां जाना ही नहीं चाहते थे। किंतु, आज भीड़ का आभास होते ही उनके मन में एक पुलक-सी जाग उठी।...पहलवानों का कोई दंगल हो, कोई अश्व-कौतुक हो, कोई मेला हो, साभिनय नृत्य करने वाली कोई नर्तकी हो...तो कितनी भीड़ एकत्रित हो जाती है। नगरी के लोग

तो आते ही है, आसपास के ग्रामों से भी जन-साधारण आ जाते हैं। और यदि ज्ञान-धर्मा के लिए कोई गोष्ठी आयोजित हो, किसी आचार्य का व्याख्यान हो, या विद्वानों का कोई सम्मेलन हो तो एक छोटे-से कक्ष को भरने के लिए भी पर्याप्त श्रोता नहीं मिल पाते। जो आते भी हैं, उन्हें सायास घेर-घेर कर लाया जाता है और वे भी आयोजन के बीच में से उठ-उठ कर भागने लगते हैं, "धामा कीजिएगा, घर में कोई अतिथि आए हैं।" या, "मेरी पत्नी प्रतीक्षा कर रही होगी। हमें उसके मायके जाना है।" निर्लज्ज ! सीधे से नहीं कहते कि हमें तो ये आयोजन ही प्रिय हैं, जिनसे हमारी पशु-युक्तियां ही तृप्त होती हैं। ऐसे आयोजनों में तो पत्नी और बच्चा के साथ जाएंगे, धन व्यय करके जाएंगे; और जहां आत्मिक विकास, ज्ञान अथवा सौन्दर्यबोध की तृप्ति की चर्चा हो... यहाँ से मन के पशुओं के समान बिदकते हैं। फिर ऐसे ज्ञान-आयोजनों में न खान-पान होता है, न सुरा का आकर्षण। ऐसे स्थान पर प्रजा क्यों आएगी...

पर आचार्य ज्ञानेश्वर ने कोई जादू था क्या ! उनके व्याख्यान के लिए इतने लोग एकत्रित हुए थे। कितने तो रथ ही खड़े थे बाहर। लगता था, इस नगर के ही नहीं, आसपास के भी अनेक नगरों के रथ यही एकत्रित कर दिए गए हैं। उनके आसपास सारथियों और परिवारकों की भीड़ थी।... यह धनाढ्य वर्ग आज इस ज्ञान-यज्ञ में कैसे उमड़ पड़ा ? इन्हें तो नर्तकियों, नटों, पहलवानों और अभिनेताओं, छूत आयोजनों और आपानको से ही अवकाश नहीं है...

निकट आने पर सुदामा को उस भीड़ में अनेक दंडधर दिखाई पड़े। सुदामा की आँखें फट गईं। मन को धक्का लगा... यहाँ दंडधरो का क्या काम ? 'पर शायद वे लोग व्यवस्था के लिए बुलाए गए होंगे'... वे सभले, 'इतनी भीड़ है तो व्यवस्था तो रखनी ही पड़ेगी ?'

दंडधर व्यवस्था संभाल भी रहे थे। उन्होंने विभिन्न मार्ग बना रखे थे। एक-एक व्यक्ति को परिचय पूछ-पूछ कर, विभिन्न मार्गों से भवन के भीतर भेजा जा रहा था।

'क्यों भाई ! आज बहुत प्रबंध करना पड़ रहा है।' सुदामा ने बिना किसी लक्ष्य के ही एक दंडधर ने चर्चा आरंभ की।

“हां जी ! कोई राज-पुरुष आए तो व्यवस्था करनी ही पड़ती है।”  
“राजपुरुष !” सुदामा चौंके, “कोई राजपुरुष आ रहा है क्या ?”  
“और नहीं तो क्या यह सारी प्रजा और श्रेष्ठि तुम्हारे दर्शनों के लिए  
एकत्रित हुए हैं ?” दंडघर उदंडता पर उतर आया था।

सुदामा का सारा तेज बुझ गया, “पर यहां तो आचार्य ज्ञानेश्वर आने  
वाले थे।” अनायास ही उनके मुख से निकला।

“हां ! वह भी आ रहा है।” दंडघर ने पीछे से आने वाले लोगों को  
मारंग देने के लिए, सुदामा को एक ओर हटा दिया।

सुदामा एक ओर ही नहीं हटे, कुछ पीछे भी हट आए, जैसे वे भीतर  
जाना ही न चाहते हों। दंडघर के शब्द उनके कानों में गूँज रहे थे। उसने  
आचार्य ज्ञानेश्वर के लिए कहा था, ‘हां ! वह भी आ रहा है।’ तो यह  
सारा आयोजन आचार्य ज्ञानेश्वर के लिए है या उस आर्गंतुक राजपुरुष के  
लिए ? ...पर दंडघर की बात पर क्या जाना। वह तो कोई निपट अनपट  
मूर्ख है। उसे क्या पता कि आचार्य ज्ञानेश्वर कौन हैं और उनका क्या  
महत्त्व है। उसके पास जो दंड है, वह राज-सत्ता का प्रतीक है, तो फिर  
उसके लिए तो राजपुरुष ही महत्त्वपूर्ण होगा...

सुदामा आगे बढ़ गए। वे उस मूर्ख दंडघर के पास पुनः नहीं जाना  
चाहते थे। वे किसी अन्य द्वार से भीतर जाएंगे।

भवन के भीतर प्रवेश कर सुदामा ने चकित होकर देखा : इतना बड़ा  
सभागार। वे विभिन्न कार्यों से नगर में तो कई बार आए थे; किंतु यह  
सभागार उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। तो फिर कैसे पता चलता  
इसके विस्तार-प्रसार का। वस्तुतः आज पहली बार ही इस सभागार में  
किसी विद्वान् का व्याख्यान हो रहा था; अन्यथा अब तक तो यहा व्यापा-  
रियों की पान-गोष्ठियां ही हुआ करती थी। ...सुदामा का उत्साह फिर से  
सौट आया था ...यह बहुत शुभ लक्षण था कि अब विद्वानों को भी इस  
योग्य समझा जाने लगा था कि उनके व्याख्यान बड़े-बड़े सभागारों में  
करवाए जाएं और वहा इतने दर्शक-श्रोता इकट्ठे हों...

सुदामा ने बैठने के लिए स्थान खोजने की इच्छा से दृष्टि घुमाई :

आगे की कुछ पंक्तियों में ऊंचे आसन थे, उनके पीछे भूमि पर आसन बिछाए गए थे; और उनके पीछे दरियां बिछी हुई थी।

एक युवती सुदामा की ओर बढ़ी।

“आर्य ! आप इनमें से किसी पर बैठ जाएं।”

सुदामा की आंखों ने उसकी अंगुली का अनुसरण किया... उसका संकेत, भूमि पर बिछे हुए आसनो से लेकर दरियों तक फैला था।

सुदामा ने उस युवती की ओर देखा : निश्चय ही, वह कोई परिचारिका नहीं थी; किसी धनी घर की कन्या थी। उसके वस्त्राभूषण तथा उसका आत्मविश्वास... किसी परिचारिका का ऐसा शृंगार नहीं हो सकता।... विद्वानों की गोष्ठियों और सभाओं में ऐसी सुन्दरियां कब से सम्मिलित होने लगी ? ...

पर दूसरे ही क्षण सुदामा के मन का आक्रोश जागा। उन्हें लगा कि वपों के अभ्यास से अर्जित किया गया उनका संयम और अनुशासन आहत हो उठा है... यह युवती सुदामा को नहीं जानती... जानने का कोई कारण भी नहीं है और प्रयास भी नहीं। उसने अभी तक शृंगार और प्रसाधनों की ही शिक्षा पाई होगी ! दर्शन, अध्यात्म, काव्य और व्याकरण से उसका क्या संबंध ! फिर वह सुदामा को कैसे जानती ! सुदामा, राज्य द्वारा प्रतिष्ठा-प्राप्त राजकीय विद्वान् तो हैं नहीं, जिन्हें ऐसे लोग भी जानते हों। उन्हें तो वे ही पाठक जान सकते हैं, जो खोज-खोज कर नए ग्रंथ पढ़ते हैं और उनके लेखकों को याद रखते हैं। सुदामा का परिधान भी उन्हें विशिष्ट व्यक्ति नहीं बनाता। उनके साथ कोई सेवक-परिचारक भी नहीं है।... जाने उसने सुदामा को क्या समझा है ...

सुदामा स्वयं अपने लिए स्थान का चुनाव करते तो कदाचित् किसी ऐसे उपेक्षित-से स्थान पर बैठते, जहां किसी की दृष्टि भी उन पर न पड़ती। वे आचार्य ज्ञानेश्वर के विचार सुनने आए थे। विचार, वे कही भी बैठकर सुन लेंगे। उसके लिए किसी ऐसे स्थान पर बैठने की आवश्यकता नहीं है, जहां लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो। उनका विचार था कि वाद में वे आचार्य से मिलकर थोड़ा समय भागेंगे, ताकि उन्हें अपनी कुछ कृतियां दिखा सकें।... भीड़-भाड़ में तो उनसे कोई बात हो नहीं

पाएगी।

पर इस युवती द्वारा उनकी यह अवहेलना !

“और आगे के इन ऊँचे आसनों पर कौन बैठेगा ?” सहसा ही सुदामा ने एक उद्वत बालक के समान पूछा।

सुदामा की मुद्रा देख, तरणी किंचित् हतप्रभ हुई; किंतु तत्काल ही स्वयं को संभाल कर बोली, “कुछ विशिष्ट अतिथि बाहर से आने वाले हैं, वही बैठेंगे।”

सुदामा के मन में आया कि वे सभागार की एक परिक्रमा करें और सभा के आयोजकों को खोज कर, उन्हें अपना परिचय दें और तब उचित स्थान पर बैठे जाने की भाग करें। आखिर यह सारा आयोजन या किस लिए ? विद्वानों के व्याख्यानो जैसे आयोजनों में ही यदि विद्वानों की उपेक्षा होगी तो क्या होगा यहाँ... वस्त्राभूषणों, परिचारकों तथा रथों की प्रदर्शनी ?... किसी व्यावसायिक नटी के कामुकतापूर्ण प्रदर्शनों तथा विद्वानों के व्याख्यान-आयोजनों के वातावरण में कुछ भेद तो होना ही चाहिए। दोनो प्रकार के आयोजनों में अभ्यागतों के महत्त्व की कसौटी में कुछ अंतर होगा या नहीं ?

किंतु सुदामा के भीतरी अनुशासन ने उनकी उद्वतता को दबा दिया...

इतना अहंकार क्यों जाग रहा है उनमें ? किस बात से पीड़ित हुए हैं वे ? युवती उन्हें नहीं जानती, अतः मंच से दूर बैठा रही है। वे वही बैठ जाएं। आचार्य ज्ञानेश्वर के विचार तो वहाँ भी सुने ही जा सकेंगे।... वे इतने महत्वाकांक्षी कब से हो गए कि उन्हें सभा की प्रथम पंक्ति में ही स्थान मिलना चाहिए। प्रथम पंक्ति में बैठने मात्र से, उन्हें क्या उपलब्धि हो जाएगी ? महत्त्व व्यक्ति का होता है या आसन का ? सुदामा को ऐसे आसन की खोज नहीं है, जिस पर बैठकर वे महत्त्वपूर्ण हो जाएं; उन्हें तो ऐसे ज्ञान की खोज है, जिसकी पाकर वे जिस मंच पर बैठें, वह मंच ही महत्त्वपूर्ण हो उठे...

मन ही मन अपने-आपसे ठेलम-ठेल करते हुए, सुदामा एक कोने में बैठ गए।

मन कुछ स्थिर हुआ तो उन्होंने अपने आसपास दृष्टि डाली

प्रकार के अनेक लोग उनके आसपास बैठे हुए थे।...सुदामा का विचार था कि ऐसी गोष्ठियों में ज्ञान-विज्ञान क्षेत्र से संबंधित लोग ही होंगे। पर यहां तो...संभव है कि लोग इसी क्षेत्र के हों, या उनकी भक्ति-योग में रुचि हो। वैसे आजकल भक्ति-योग कोई दार्शनिक सिद्धांत ही तो नहीं रह गया है...व्यावहारिक भक्ति भी तो चल पड़ी है। संभव है कि ये लोग भक्ति-मार्ग में आस्था रखते हों और उसी दृष्टि से आए हों...फिर सुदामा ही कहां सबको जानते हैं। कितनी गोष्ठियों और सम्मेलनों में जाते हैं वे? उनका जन्म-संपर्क है ही कितना? उनके जैसा घर-घुस्सू आदमी, कितने लोगों को पहचानेगा...

सहसा उनकी दृष्टि अगली पंक्ति में बैठे, भृगुदास पर पड़ी। भृगुदास उन्हीं के गांव का ब्राह्मण है, उन्हीं के टोले में रहने वाला। उसकी कुटिया, उनकी कुटिया से थोड़ी ही दूर थी।...तो उसकी भी रुचि है ज्ञान-सम्मेलनों में। सुदामा तो उसे बस आशीर्वाद देने वाला ब्राह्मण ही समझते थे।...

सुदामा उसके पास खिसक आए। उन्होंने हाथ जोड़कर उसका अभिवादन किया।

“ओह सुदामा!” उसने और कुछ नहीं कहा।

सुदामा को कुछ अटपटा लगा : दो परिचित व्यक्ति इस प्रकार साय-साथ बैठे हों और परस्पर कोई बात न करें...यह असम्यता थी। कुछ बात चीत तो होनी ही चाहिए।

“अच्छा है कि हमारे गांव के निकट भी ऐसी गोष्ठियां होने लगीं।” सुदामा धीरे से बोले, “नहीं तो ज्ञान-चर्चा का अवसर ही नहीं मिलता था।”

भृगुदास ने उन्हें कुछ तीखी दृष्टि से देखा, “यहां क्या होगी ज्ञान-गोष्ठियां। ज्ञान-चर्चा तो द्वारका में होती है...।”

“द्वारका!” सुदामा के मुँह से अनायास ही निकला।

“हां! मैं वहां जाता-आता रहता हूँ।” भृगुदास के स्वर में गर्व झलक आया था, “मैं वहां गुरुकुल में ही ठहरता हूँ। एक उपाध्याय मेरे मित्र हैं। कल फिर जाने वाला हूँ।...”

“द्वारका !” इस बार सुदामा ने मन-ही-मन कहा, “यह भृगुदास भी...।”

भृगुदास ने सुदामा के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। वह बोलता चला गया, “कुछ सीखना हो तो व्यक्ति को राजधानी जाना चाहिए। यहाँ गंवई-गांव में क्या रखा है। यहाँ जो शोभ आचार्य बन कर पुजते हैं, वहाँ उन्हें कोई पूछता भी नहीं है।...में तो इन लोगों से बात भी नहीं करता...,” उसने रुककर सुदामा को देखा, “आज तो यू ही चला आया कि चलो ज़रा रौनक-भेला देख आएँ।”

“हाँ !” सुदामा समझ नहीं पा रहे थे कि वे क्या कहें।

“मैं तो प्रति मास द्वारका जाता हूँ।” भृगुदास बोला, “अपनी ज्ञान की प्यास तो वहीं बुझती है। यहाँ तो रेंडी के पीधे ही वृक्ष बने हुए हैं...।”

आचार्य ज्ञानेश्वर और द्वारका से आए राजपुरुष एक साथ ही सभागार में पधारे। सुदामा की इच्छा हुई कि आचार्य के निकट जाकर, बिना परिचय के भी, उन्हें प्रणाम तो कर ही लें। विद्वानों के निकटदर्शन भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। और फिर पूज्य-पूजन तो किसी भी भले आदमी का कर्तव्य है। किंतु आचार्य तथा उस राजपुरुष को घेरे हुए इतनी बड़ी भीड़ चल रही थी कि उन तक पहुंचना, सुदामा को असंभव लगा। प्रयत्न करते तो कदाचित् भीड़ का धक्का उन्हें सागर की बड़ी लहर के थपेड़े के समान लगता और वे अपमान की पीड़ा की कचोट मन में लिए लौट आते। वे मन मारे बैठे रहे...सभा के पश्चात् ही मिल लेंगे।

आचार्य ज्ञानेश्वर तथा राजपुरुष मंच पर बैठ गए थे। उनके आसपास चार-पांच व्यक्ति और भी बैठे थे। उनमें से दो-तीन को तो सुदामा पहचानते ही नहीं थे। संभव है, वे लोग भी बाहर से आए हों। शेष को सुदामा पहचानते थे—वे लोग नगर के विद्वानों में से नहीं थे। उन्हें लोग, दार्शनिक, विद्वान्, कवि अथवा ऋषि के रूप में कम, घनाढ्य श्रेष्ठियों और राजपुरुषों के चाटुकार तथा दरबारी विद्वान् के रूप में ही अधिक जानते थे। उनमें और अनेक गुण हो सकते हैं, पर न विद्वत्ता थी, न



स्वाभिमान ।

सुदामा का मन खट्टा हो गया । जहा ऐसे लोग महत्वपूर्ण मान लिए जाएं, वहां वास्तविक विद्वानों का क्या सम्मान होगा । इसका तो एक ही अर्थ है कि सभा के आयोजकों को या तो विद्वानों की पहचान नहीं है... मृगुदास ठीक ही कह रहा था... या फिर वे विद्वानों का सम्मान करना ही नहीं चाहते ।... आगे के सारे आसन भी भर गए थे; किंतु उन पर भी विद्वानों के स्थान पर श्रेष्ठियों के परिचारक और राजपुरुषों के अंगरक्षक ही अधिक दिखाई पड़ रहे थे ।

सुदामा को लगा, आज उनकी दृष्टि छिन्नान्वेषण में ही लगी हुई है । वे यहा दर्शनशास्त्र के उच्चतम सिद्धांतों की व्याख्या सुनने आए हैं या यह देखने की किस व्यक्ति को कौन-सा आसन दिया जाता है । ये छोटी-छोटी बातें उनके लिए नहीं हैं । यह सब तो सामाजिक शिष्टाचार है । यदि आयोजकों को इसका ज्ञान नहीं है, तो क्या हुआ । समझदार व्यक्ति को चाहिए कि सार तत्त्व ग्रहण करे और शेष सब थोथा जानकर छोड़ दे ।...

सुदामा बड़ी व्यग्रता से सभा की कार्यवाही आरम्भ होने की प्रतीक्षा करने लगे ।

संयोजक महोदय ने सभा की कार्यवाही आरम्भ करने की घोषणा की और आचार्य ज्ञानेश्वर से प्रार्थना की कि वे राजपुरुष की माल्यार्पण करें ।

सुदामा सन्न रह गए ।

यहा आचार्य का ध्याख्यान होने वाला है या राजपुरुष का सम्मान ? यदि यह राजपुरुष, आचार्य को माल्यार्पण करता तो आचार्य का सम्मान भी बढ़ता और राजपुरुष भी अपनी गुण-भाहकता के लिए सम्मानित होता; किन्तु माल्यार्पण कर रहे है आचार्य । कोई भी कहेगा कि उन्होंने विद्वत्ता को अपमानित किया है; और कौन वह अपने से छोटे को स्नेह देने अथवा आतिथेय धर्म निभाने के लिए माल्यार्पण कर रहे हैं । वे तो स्वयं अतिथि हैं और सीधे-सीधे चाटुकार भांडों के समान खीस नपौर रहे हैं... और राजपुरुष भी क्या लग रहा है, विद्वानों के सिर पर चरण धरता हुआ, उन्हें अपमानित करता हुआ आततायी ।

सहसा सुदामा को लगा कि सभा का वास्तविक रूप उनके सम्मुख प्रकट हो गया है। आरम्भ से अब तक जिन-जिन बातों पर ये चौंके थे, या जो बातें उन्हें आपत्तिजनक लगी थी उनमें कुछ भी तो वैसा नहीं था। वह तो सभा के स्वरूप को समझने में उनकी भूल मात्र थी। यदि आरम्भ से ही उन्होंने समझ लिया होता कि यह सारा समारोह आचार्य ज्ञानेश्वर के व्याख्यान के लिए, इस नवगंतुक राजपुरुष के सम्मान के लिए है और आचार्य ज्ञानेश्वर का सम्मान तो नाटक मात्र है—तो उन्हें किसी भी बात पर आश्चर्य न हुआ होता। यह विशाल सभागार उसी राजपुरुष के लिए था। सभा में आने वाले ये घनाढ्य श्रेष्ठ, जिनके रथ बाहर लड़े थे, और जिनकी तरुणी पुत्रिया, सभा में लोगों का स्वागत-सत्कार करती दिखाई पड़ रही थीं—आचार्य के लिए नहीं, राजपुरुष के लिए आए थे। मंच पर बैठे लाग राजपुरुष के सम्मुख जैसे विछे जा रहे थे। सभागार में राजपुरुष के अंगरक्षकों का भी ऐसा सत्कार हो रहा था, जैसे वे आचार्य ज्ञानेश्वर के गुरु हों—

तभी आचार्य ज्ञानेश्वर ने अपने स्थान से उठकर बड़े विनीत भाव से राजपुरुष के गले में पुष्पमाला पहना दी और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उनके हाव-भाव चीख-चील कर कह रहे थे कि राजपुरुष को माल्यार्पण कर वे घन्य हो गए हैं और यदि राजपुरुष को आपत्ति न हो तथा संयोजकों को अटपटा न लगे तो वे राजपुरुष के पांव छूकर घन्य होना भी पसन्द करेंगे।

सुदामा को जैसे विच्छू का डंक लगा। आचार्य ज्ञानेश्वर का यह रूप। कहां उनके वे ग्रंथ और कहा उनका यह आचरण। इस वृद्ध दार्शनिक को क्या यह शोभा देता है कि वह इस युवा राजपुरुष के प्रति अपनी ऐसी भक्ति दिखाए।...सुदामा के मन में आचार्य के प्रति चित्तुष्णा जाग रही थी।

आचार्य के बैठ जाने के बाद, लगा, लोगों पर माल्यार्पण का दौरा पड़ गया है। राजपुरुष सर नीचा किए, चुपचाप बैठा रहा और लोग उस पर मालाओं का ढेर लगाते रहे। उसने एक बार दृष्टि उठाकर यह भी नहीं देखा कि किस-किस ने उसके गले में माला डाली। उसके भुके हुए चेहरे

पर एक स्पष्ट वितृष्णा थी और उसे सायास धामे रहने का भाव...स्पष्ट था कि वह यह नहीं मान रहा था कि उसके गले में माला डाल कर लोग उसका सम्मान कर रहे हैं। वह मालाएं स्वीकार कर उन पर कृपा कर रहा था। सत्ता का दर्प छिपाए नहीं छिप रहा था...

माल्यार्पण हो चुका तो आचार्य ज्ञानेश्वर व्याख्यान करने के लिए उठ खड़े हुए।

सुदामा सब कुछ भूलकर दत्तचित्त हो गए। किसी के व्यवितगत आचरण से उन्हें क्या लेना-देना? जिन विचारों और सिद्धांतों के लिए वे आए हैं, वे तो सुनने को मिलेंगे...

आचार्य ज्ञानेश्वर ने ईश्वर को प्रणाम कर, नयन मूंदे हुए, अत्यन्त मग्न भाव से बहुत मधुर कंठ से दो श्लोक गाए। आचार्य के कण्ठ के माधुर्य ने सुदामा को गद्गद कर दिया। इस वृद्धावस्था में भी इतना मधुर गाने वाला व्यक्ति। चमत्कार ही था। यह स्वर और संगीत, जब उनके उदात्त आध्यात्मिक विचारों के साथ मिलकर प्रकट होता होगा तो कौन-सा चमत्कार नहीं करता होगा।

आचार्य ने अपने नयन खोले और राजपुरुष को ओर देखा तथा हाथ जोड़ दिए, जैसे स्तुति संपन्न हुई हो।

तो वन्दना उस ईश्वर की हो रही थी।...सुदामा को लगा, उनका सिर भन्नाता जा रहा है। पर, उन्होंने स्वयं को संभाला। भला इसमें खीझने की क्या बात है। यह आचार्य का अपना निजी मामला है। वे जिसे चाहें, भक्तिपूर्वक प्रणाम करें, जिसकी चाहें स्तुति करें। सुदामा को अपना सम्बन्ध, केवल उनके दार्शनिक सूत्रों तक ही रखना चाहिए। आचार्य के विचार सार्वजनिक उपयोग के लिए हैं, उनका व्यवहार नहीं।

आचार्य ज्ञानेश्वर ने बोलना आरम्भ किया, "उपस्थित विभूतियो! देवियो और सज्जनो! मेरा यह सौभाग्य है कि मैं आपकी नगरी में तब उपस्थित हुआ, जब स्वयं स्वनाम धन्य वृष्णि राजकुमार उपराज राजशेखर यहां वर्तमान हैं। आप सोचिए, इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है कि आप प्रभु के किसी साधारण भक्त से मिलने जाएं और आपको वहां साक्षात् प्रभु विद्यमान मिल जाएं। मैंने अपने पिछले जन्म में

अवश्य कोई असाधारण पुण्य किया था, जो आज अकस्मात् ही उदित हुआ है और मुझे उपराज के दर्शन हो गए हैं। राजपुरुषों के दर्शन बड़े सौभाग्य में होते हैं। बड़े-बड़े लोग देहरियों पर अपनी नाक रगड़-रगड़कर चेहरे को सपाट बना लेते हैं, तो भी उन्हें एक साधारण ग्राम-प्रमुख अथवा नगर-शासक के दर्शन नहीं होते। राजपरिवार के सदस्य और उपराज जैसे पद के दासक का इस प्रकार अपनी प्रजा के बीच आकर बैठ जाना, स्वयं ईश्वर का जन-साधारण के बीच आकर बैठ जाने से कम चमत्कारी नहीं है।” आचार्य ने एक स्वरित स्वास लिया और बोलने की भगदड़ में कुछ ऐसे आगे बढ़े कि सुदामा को लगा कि आचार्य इस भय से त्रस्त हैं कि कहीं उपराज उनका व्याख्यान सुनने से पहले ही उठकर न चल दें। कदाचित् आचार्य इस प्रयत्न में थे कि इससे पहले कि उपराज उठें, वे अपने हृदय की कृतज्ञता की वाढ़ में उन्हें पूरी तरह आप्लावित कर दें, “यह सब इसलिए संभव हो सका है, क्योंकि उपराज के मन में अपनी प्रजा के लिए अथाह ममता है, इतनी ममता कदाचित् माँ के मन में अपने बच्चे के लिए, अथवा स्वयं ब्रह्मा के मन में अपनी रची सृष्टि के लिए भी न हो। इसी ममता, स्नेह, कृपा तथा दया के कारण, उपराज प्रजा के भाग्य-विधाता बन गए हैं। कई बार तो मुझे लगता है कि उनके मन में झुण्डा ब्रह्मा की-सी ममता, पालनकर्ता विष्णु का-सा स्नेह और पोषण-क्षमता तथा रुद्र के समान शत्रुओं का संहार करने का सामर्थ्य है। मुझे उपराज में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की त्रिमूर्ति दिखाई पड़ती है...”

सुदामा मुहं वाए प्रतीक्षा कर रहे थे कि अभी आचार्य अपने विषय पर आएंगे, अभी वे दर्शनशास्त्र की कोई बात कहेंगे, अभी भक्ति-योग के सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे; और आचार्य थे कि बहे जा रहे थे, “उपराज ब्रह्मा, विष्णु, महेश की ही त्रिमूर्ति नहीं है, उनमें गंगा, यमुना और सरस्वती का भी संगम है। उनमें गंगा की पवित्रता है, यमुना की सरसता है और सरस्वती का ज्ञान है...”

सुदामा के लिए आचार्य का व्याख्यान असह्य होता जा रहा था। उनकी मानसिक क्षीभ के साथ-साथ हृदय की पीड़ा भी जुड़ गई थी। उन्हें लगा कि उनके हृदय में स्थापित, पवित्र अष्ट घातुओं से बनी आचार्य

ज्ञानेश्वर की मूर्ति टुकड़े-टुकड़े हो गई है। उसके टुकड़े बड़े नुकीले और धारदार थे। वे सारे टुकड़े सुदामा के हृदय में लगातार चुभ-चुभकर घाव कर रहे थे और उन घावों से रक्त बह रहा था। सुदामा बड़े असमंजस में बैठे, एक दृष्टि अपने भीतर आहत हृदय पर डालते और दूसरी धाराप्रवाह व्याख्यान करने वाले आचार्य ज्ञानेश्वर पर...

आचार्य के व्याख्यान ने एक मोड़ लिया, "उपराज राजशेखर के पिता वृष्णि अकूतबल मेरे बाल-सखा थे। हमारा सारा बचपन एक साथ बीता था। हम साथ खेलें और साथ पढ़ें थे। हमने साथ-साथ गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया था..."

सुदामा के मन में आया, खड़े होकर ऊंचे स्वर में कहें, "आपका वृष्णि अकूतबल के साथ विवाह हो गया था क्या? पर आप में से पति कौन था और पत्नी कौन? इस उपराज को किसने अपने गर्भ में धारण किया था?..."

और आचार्य कह रहे थे, "मैंने जिस बालक को अपनी गोद में खिलाया था, आज वह एक प्रदेश का उपराज हो गया है। मुझ जैसा भाग्यशाली कौन होगा, किसका पुण्य इतना प्रबल हुआ होगा, किस..."

सुदामा को लगा, उन्हें क्रमशः एक उन्माद ग्रसता जा रहा था। यदि उन्होंने स्वयं को सभाले नहीं रखा, तो वे किसी भी क्षण खड़े होकर चीखने लगेंगे... और वह चीखना उनके अपने ही नियंत्रण में नहीं होगा। जाने उनके मुख से क्या निकले, क्या न निकले...

आचार्य क्या कह रहे थे, सुदामा सुन नहीं रहे थे। उनका अपना मन भयकर शोर मचा रहा था : पता नहीं यह आचार्य ज्ञानेश्वर सत्य कह भी रहे हैं या नहीं। पता नहीं, ये उपराज के पिता को जानते भी हैं या नहीं। पर यदि ज्ञान की गरिमा, राजपुरुषों के संपर्कों से ही नापी जाती है, तो सुदामा, स्वयं कृष्ण के सहपाठी, गुरु भाई और मित्र हैं। ...उठा दो इस मूढ़, बूढ़ चाटुकार को यहाँ से, इसका संपर्क एक अज्ञात राजपुरुष के पिता से रहा है। यहाँ, मंच पर सुदामा को बैठा दो। सुदामा का संपर्क सर्वोच्च राजपुरुष से है। यह मूगा राजपुरुष, जो मंच पर से एक वाक्य भी नहीं बोला था, और शायद बोले भी नहीं—क्या इतना महत्त्वपूर्ण था

कि उसे मंच पर बैठकर विद्वानों द्वारा उसकी आरती उतारी जाए ? यदि किसी दिन देश भर के विद्वान् कृष्ण को बीच में बैठकर उसका गुण-गान करें तो सुदामा को कोई आपत्ति नहीं होगी। कृष्ण स्वयं दार्शनिक है। कर्मयोग के सिद्धान्तों का उसका भाष्य, विद्वानों को ही नहीं, ऋषियों को भी अभिभूत कर देता है। “सुदामा तो उस कृष्ण के मित्र है। और यह गूंगा राजपुरुष” धन्य हो तुम वृद्ध आचार्य ज्ञानेश्वर”

सहसा सुदामा के मन में आया, क्या इस सभा में मंच पर बैठना और इस प्रकार मूर्खतापूर्ण बातें करना, इतना महत्त्वपूर्ण है कि सुदामा के मन में आचार्य ज्ञानेश्वर के स्थान पर, मंच पर बैठने की आकांक्षा जागी है ? “नहीं। वह तो आवेश की बात थी। यदि सचमुच उन्हें मंच पर बैठाया जाएगा, तो वे कभी भी उसे स्वीकार नहीं करेंगे। यह कोई ऐसा महत्त्व नहीं था, जिससे उन्हें अपना सम्मान अथवा गौरव कुछ बढ़ता प्रतीत हो। ऐसा गौरव तो आचार्य ज्ञानेश्वर को ही धन्य कर सकता है।

उनका मन हुआ, जोर का एक अट्टहास करें और ऊंचे स्वर में कहें, “आचार्य ज्ञानेश्वर। आपका भक्ति-योग मेरी समझ में आ गया है। आज आप इस राजपुरुष के प्रति अपनी भक्ति ही तो प्रकट कर रहे हैं। यह भक्ति तो तत्काल फलदायिनी है। संभव है कि सभागार छोड़ने से पहले ही आपके लिए किसी पुरस्कार, वृत्ति, दान या सहयोग की घोषणा कर दी जाए। संभव है कोई पद ही दे दिया जाए” यही है तुम्हारे ज्ञान और भक्ति का लक्ष्य ? तुम कहीं भी सामान्य मनुष्य से ऊंचे न उठ पाए, धरन् ज्ञान को ही तुम लोगों ने ला कीचड़ में सान दिया—धिक्कार है—

सुदामा उठ खड़े हुए। अपने साथ लाए हुए, ग्रंथ के ताल-पत्र उन्होंने अपने वक्ष से चिपकाकर, उत्तरीय में छिपा लिए—कही आचार्य ज्ञानेश्वर की दृष्टि उन पर पड़कर उन्हें कलुषित न कर जाए।

सभागार से बाहर निकलकर सुदामा ने खुली हवा में एक लंबी सांस ली। अच्छा हुआ, उन्होंने सभा से पहले, आचार्य से मिलने का प्रयत्न नहीं किया। उसे दण्डधर ने आचार्य के विषय में ठीक ही कहा था, “हा ! वह भी आ रहा है।”

जैसे-जैसे सुदामा अपने गांव की ओर बढ़ते जा रहे थे, उनके मानसिक तनाव का ज्वार नीचे आता जा रहा था। बाते तो तब भी उनके मस्तिष्क में उठ रही थी, किन्तु यह सब आवेश का चिंतन था, जो प्रहारक होता है, सिद्धान्तिक नहीं। किन्तु तनाव दूर हो जाने पर, मन सहज रूप से स्वस्थ चिंतन करने लगता है। सुदामा का मस्तिष्क अनायास ही सहज रूप से व्यवहार में से सिद्धान्त निष्कर्षित करने लगता था और सिद्धान्तों को व्यवहार पर आरोपित करता रहता था..."

आचार्य ज्ञानेश्वर ने आज भक्ति का एक रूप दर्शाया था। किसी उपलब्धि के लिए, भौतिक उपलब्धि के लिए भक्ति। जो कुछ वे अपने ज्ञान से प्राप्त नहीं कर सके, अपनी भक्ति से प्राप्त करना चाह रहे थे।

“यह लौकिक भक्ति थी। जिस किसी व्यक्ति की भक्ति की जाए, वह अपनी क्षमता-भर दान देता है। पद को प्राप्त करने के लिए, आवश्यक योग्यता न हो तो भक्ति से वह काम हो जाता है। धन की लालसा हो तो धनोपाजन का उद्यम न कर, भक्ति करें, तो धन प्राप्त हो जाता है। भक्ति तो वह रत्न है, जो किसी भी अन्य योग्यता अथवा कर्म का स्थानापन्न हो सकता है। इस दृष्टि से तो भक्ति, ज्ञान और कर्म से श्रेष्ठ है।” हमारे व्यवहार का यह लौकिक सिद्धान्त, क्या अध्यात्म से अलौकिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार लागू होता है? ...क्या भक्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर इसी प्रकार सासारिक सुख-सुविधाएं प्रदान कर देता है? कष्टों, रोगों तथा क्लेशों से मुक्त कर देता है? मृत्यु को टाल कर, आयु को बढ़ा देता है? क्या कर्म का कोई महत्त्व नहीं है? भक्ति के रूप में ईश्वर क्या अपनी स्तुति सुनना चाहता है? ईश्वर क्या अपनी प्रशंसा का इतना भूखा है कि व्यक्ति के कर्मों को भूल कर, उसके प्रत्येक अपराध को क्षमा कर, उसकी इच्छापूर्ति कर देता है? क्या अपनी प्रशंसा और स्तुति के सामने, ईश्वर के लिए न्याय और अन्याय का कोई महत्त्व नहीं है? ईश्वर में यह दुर्बलता क्या सामान्य मनुष्य की अपेक्षा भी अधिक है? कोई भी मनुष्य यह समझ सकता है कि उसकी जो प्रशंसा की जाती है, वह उसके योग्य है या नहीं और जो व्यक्ति प्रशंसा कर रहा है, उसका लक्ष्य प्रशंसा ही है या कुछ और...क्या अपने भक्तों के संदर्भ में ईश्वर इतनी-सी बात नहीं समझता?

“इसीलिए तो ज्ञान-योग में सुदामा ईश्वर का यह स्वरूप स्वीकार नहीं करते। ऐसे ईश्वर को वे कैसे स्वीकार कर लें, जो एक सामान्य मनुष्य को “उसकी दुर्बलताओं और दुर्गुणों के साथ ही, सर्वशक्ति-संपन्न बना कर तैयार किया गया हो”

सुदामा का मन उलझने लगा “और जब सुदामा का मन उलझने लगता है तो उन्हें कृष्ण की याद आने लगती है। उलझनें जितनी बढ़ती हैं, कृष्ण की स्मृति भी उतनी ही तीव्र होने लगती है। “गुणियों को कैसे सुलभाता है कृष्ण? सारी समस्याओं का समाधान है उसके पास, जैसे वह सर्वज्ञान-संपन्न हो” कब भेंट होगी तुमसे? कृष्ण! कृष्ण!!

छह

प्रातः सुदामा की आंख खुली तो उन्हें लगा, अभी भी उनका सिर भारी था। उन्हें लगा, सिर से भी अधिक भारी उनका मन था। क्या-क्या अपेक्षाएं लेकर, वे आचार्य ज्ञानेश्वर का व्याख्यान सुनने गए थे और कौसी न्लानि हुई थी वहां जाकर “पर इतना खिन्न होने की क्या बात है। “ सुदामा ने स्वयं को समझाया—पर खिन्नता दूर नहीं हुई। उनके मन का एक स्वप्न टूट गया था “एक पूजनीय का यह घृणित रूप “सुदामा के मन ने स्वयं को विद्वानों से जोड़ लिया था। उन्हें उच्च और श्रेष्ठ मान लिया था। उनका ऐसा रूप देखकर मन पीड़ित नहीं होया “

क्या है यह सब ?

क्यों करते हैं ये विद्वान् ऐसा आचरण ? “और सहसा सुदामा के मन में जैसे एक समाधान कौंध गया। “आचार्य ज्ञानेश्वर, राजपुरुष के निकट एक विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित किए गए थे। जहां वे हैं, जो वे हैं, उसमें ऊपर उठने की संभावना उन्हें दिखाई पड़ी होगी। वे यदि आचार्य हैं तो राजपुरुष की कृपा से कुलपति बन सकते हैं। द्वारका के दरवार से प्रशस्ति-पत्र प्राप्त करने की या किमी परिपद् में उनके मनोनीत होने की संभा



हो सकती है...। सुदामा का क्या है...। अधिक से अधिक, गांव के एक साधारण ब्राह्मण अध्यापक के रूप में उनका परिचय दिया जाएगा। उन्हें न कोई आचार्य बनाएगा, न कुलपति। न उन्हें कोई प्रशस्तिपत्र मिलने जा रहा है, न वे किसी परिषद् में मनीनीत होंगे। जब कोई संभावना ही नहीं है, तो उनके मुख से लार क्यों टपके? क्यों वे राजपुरुषों के सामने नाक रगड़ें, अपना स्वाभिमान नष्ट करें?...।

सुदामा के सामने प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता स्वतः खुलने लगी... सांसारिक प्रतिस्पर्धा में मनुष्य, जितना ऊंचा उठता है, उतना सबल, दृढ़ और स्वाभिमानी होने के स्थान पर वह उतना ही दुर्बल, लोलुप और चरित्रहीन होता जाता है। जिसको जितना कम मिला है, वह अपने स्थान पर उतना ही संतुष्ट है और जिसको जितना अधिक मिला है, वह उतना ही मुंह बाए हुए है... क्या स्वयं सुदामा तभी तक स्वाभिमानी रयागी और चरित्रवान हैं, जब तक उनके सामने कोई टुकड़ा नहीं फेंका गया? क्या टुकड़ा सामने देखते ही, उनके मुख से भी आचार्य ज्ञानेश्वर के समान लार टपकने लगेगी? क्या वे भी अपना सारा स्वाभिमान भूलकर लोलुप कुत्ते के समान टुकड़े पर जा झपटेंगे... उन्हें लगा, उनका मन अपनी आतुरता में अत्यन्त आस्तिक हो उठा है। उनकी आंखें मुंद गईं और मन ही मन हाथ जोड़कर उनकी आत्मा ने याचना की, 'हे प्रभु! प्रलोभन देकर मेरा परीक्षण मत करना।'

जब कभी कही, कोई ऐसी चर्चा उठती है कि किसी संपर्क से सुदामा को धन मिल सकता है; कोई श्रेष्ठि उन पर अनुग्रह कर सकता है—तो सुदामा का मन व्याकुल हो उठता है। मन में धन प्राप्ति की बात न आई होती तो बात और है। एक बार मन में यह बात आ जाए और सुदामा चल पड़े तो वे अपनी दृष्टि में ही इतना गिर जाते हैं। उनकी अपनी अन्तरात्मा ही इतनी क्रूर होकर ऐसे निर्भय आघात करने लगती है कि सुदामा नाहि-नाहि करने लगते हैं।... कल भी श्रेष्ठि धनदत्त के घर जाने की बात थी। पहले भी सुशीला कई बार कह चुकी है। सुशीला ने कई बार कहा था और वे स्वयं भी इस तथ्य से परिचित हैं कि उनके अनेक परिचित ब्राह्मण श्रेष्ठि धनदत्त से दो बातें कर लेने का अवसर खोजते रहते हैं।

श्रेष्ठ कई बार सुदामा के प्रति अपना आकर्षण जता चुके हैं...पर सुदामा हर बार टाल देते हैं। हो सकता है कि कुछ लोग उन्हें अहंकारी मानते हों माना भी जा सकता है। पर उनकी चितन-पद्धति ही कुछ भिन्न है।... श्रेष्ठ के पास धन है, उनके पास ज्ञान। किन्तु, क्या श्रेष्ठ उनसे समान घरातल पर मिलेगा? शायद नहीं। श्रेष्ठ अपने धन से सब कुछ खरीद सकता है। उसे खरीदने का ही अभ्यास है...पर ज्ञान [बिकाऊ नहीं है]... और फिर बात मात्र सुदामा के स्वाभिमान की ही होती, तो वे श्रेष्ठ के द्वार पर दस बार चले गए होते, पर सुदामा पर समस्त बुद्धिजीवी वर्ग के सम्मान का दायित्व है। श्रेष्ठ घनदत्त के द्वार पर सुदामा का याचक बन कर जाना, समस्त बुद्धिजीवी वर्ग को कलंकित कर देगा।...पर इन आचार्यों का चरित्र—

सुदामा अभी आचार्य घमँद्र का चरित्र नहीं भूले थे...आचार्य ने अपनी ब्राह्मणी की संस्था उपेक्षा कर, अपनी युवा संतानों तथा ममाद के विरोध की ओर से निर्लज्ज बधिरता का स्वांग रचा। आचार्यों मन्त्रवर्ती से उनके संबंध बहुत बढ़ गए थे। सुदामा व्यर्थ ही किसी को कर्नडिन करना नहीं चाहते। वे नहीं जानते कि उन दोनों का परस्पर इन संबंध था; किन्तु अपने परिवारों की उपेक्षा कर, दोनों का उद्वेग ही मंगनि में रहना किससे छुपा था?...किन्तु सुदामा ने बड़ी चतुः की बात पर ध्यान नहीं दिया। स्वयं को समझा लिया कि आचार्य घमँद्र की अपनी मायात्मक शिक्षिता ब्राह्मणी है। ज्ञान-क्षेत्र में वे पति की मन्त्रवर्ती नहीं हो सकती। ऐसे में यदि अपनी धीढ़िक आवश्यकताओं के कारण आचार्य, आचार्य सत्यवती के निकट आ गए हैं तो क्या उद्वेग ही क्या। दोनों पक्षिक उनके संबंधों के विषय में जानते हैं और उन्हें स्वीकार करने हैं। तो इन संबंधों में कुछ भी गड़बड़ नहीं है। उनके संबंधों की उद्वेग ही अनीचित्य को लेकर किना दना उद्वेग उद्वेग द्वेषियों का उद्वेग ही होगा। आचार्य घमँद्र की उद्वेग, उद्वेग और उद्वेगों को उद्वेग ही ज्ञान-क्षेत्र में उनके अनेक विद्वेग और उद्वेग द्वेषियों की उद्वेग ही उन्हें कलंकित करने का उद्वेग का उद्वेग ही तो क्या उद्वेग अनुदार, संवृत्त वृत्ति...

किंतु दैवयोग से आचार्या को महारोग हो गया। अन्य लोगों के साथ-साथ, आचार्या को भी अपनी निश्चित मृत्यु सामने दिखने लगी, तो अनेक बातों से पर्दा उठ गया। मृत्यु के सत्य ने, अन्य अनेक सत्यों को भी उजागर कर दिया। दोनों के संबंध स्पष्ट हो गए और उसके साथ ही प्रकट हुई आचार्या की पीड़ा। वे जब यह अपेक्षा कर रही थी कि उनके बच्चे और पीढ़ा के इन अंतिम दिनों में आचार्य उनका साथ निभाएंगे... प्रेमी की सात्वता, धैर्य और संतोष देंगे, रोग की यातना को अपने प्रेम के लेप से कम कर देंगे... तब आचार्य उन्हें अपने लिए अनुपयोगी मानकर किसी अन्य सखी की ओर बढ़ गए थे। आचार्या मृत्यु की पहिर्मा गिन रही थी और आचार्य अपनी नई सखी के साथ प्रेम के उच्चतर धरातलों की खोज कर रहे थे... आचार्या इस तथ्य से परिचित थी और अपने रोग से अधिक पीड़ित इस विस्वासघात के कारण थी। अपनी मृत्यु के क्षणों में उन्होंने अवश्य ही आचार्य के लिए किमी सुख की कामना नहीं की होगी...

आचार्य परमेश्वर के परित्र-भजन से भी सुदामा का मन ऐसे ही दुगी हुआ था... और आज आचार्य ज्ञानेश्वर...

सुदामा अपना गिर झटककर उठ सके हुए... इन विद्वानों ने केवल विद्या पार्ई है, परित्र नहीं पाया; इसलिए न ये जानी हो सके न 'हृदय'। सुदामा जब तक इनके पीछे गिर घुनते रहेंगे। उन्हें बहुत से कार्य भी तो करने हैं।

साठ छोड़ी तो दिनचर्या आरंभ हो गई।... बड़ने के लिए भाए छात्रों को पढ़ाया। घोडा-गा अग्याग विदेश और ज्ञान को भी कराया और मुक्त मन में अपने छात्र-मंत्रों में आ बैठे। अब दोषहर के भोजन तक उनका कार्य निर्विघ्न चलेगा। सिगने के लिए सुदामा को यही समय उपयुक्त लगता है। उनको दृष्टता होती है कि प्रायः उठकर खिगनी अर्दी संभय हो, वे सिगने के लिए बैठ जायें। इस समय परित्रक विगन के लिए सक्षम होता है। इयान के-इय होता है। परीर आराम नगी मांग रहा होगा। पर 'रंग-रंग' समय खोजता जाता है, दिव्य पड़ता जाता है, उनका परित्रक मोने लगता है और परीर लगता है। दोषहर के भोजन के परचाय तो वे निर्विघ्न रूप में छोटी देर के लिए बैठना चाहते हैं। भीर की एह-

आध भूपकी से सकें तो बहुत ही अच्छा। भोजन करते ही, उठकर कहीं चल दें तो नींद नहीं आती, पर घर पर रहें तो शरीर अलसा ही जाता है। संध्या होते-होते तो जैसे मस्तिष्क थककर चूर हो जाता है। कुछ सोचना और लिखना बहुत कठिन हो जाता है। बस यही इच्छा होती है कि कोई अच्छा मित्र उनके पास जा बैठे, या वे ही कहीं, निकट ही किसी के पास हो जाएं। हल्की-फुल्की मनोरंजक बातचीत हो। गंभीर धर्चाओं की इच्छा उस समय नहीं होती..."

इसलिए, प्रातः वे जल्दी से जल्दी लिखने के लिए बैठ जाना चाहते हैं। प्रातः की आवश्यक दिनचर्या से निवृत्त कर, सुधीला अपनी गृहस्त्री में लग जाती है। बच्चे कहीं खेलने चले जाते हैं; और सुदामा सब कुछ भूलकर अपने ग्रंथों और लेखनी में खो जाते हैं—कोई कहीं भी हो, इस समय सुदामा के लिए कोई कहीं नहीं होता..."

"पिताजी ! पिताजी ! रोहित कहता है कि..." ज्ञान बोलेता-बोलता चौकी के ऊपर चढ़ आया।

"हैं ! हैं !!" सुदामा ने हाथ बढ़ाकर बेटे को वहीं रोकने का प्रयत्न किया, "ऐसे तो तुम मेरे सारे ग्रंथ खराब कर दोगे बेटे !"

"मेरी बात सुनो न पिताजी !" पिता की अप्रत्याशित बाधा से ज्ञान रुआंसा हो गया।

"बात तो तुम्हारी अवश्य सुनेंगे," सुदामा ने हंसकर पुत्र के सिर पर हाथ फेरा, "पर बेटे ! मुझे ताल-पत्र तो समेट लेने दो। तुम अपनी आतुरता में यह तो देखते ही नहीं कि कहां क्या पड़ा है। बढ़ते आ रहे हो। ये खराब हो गए तो नए ताल-पत्र कहां से आएंगे। तुम्हारे पिता के पास तो इतना धन है नहीं। फिर यह ग्रंथ जो मैं लिख रहा हूँ, कैसे पूरा होगा ? है ?"

"मेरी बात सुनो न पिताजी !" ज्ञान ने उसी तीव्रता से अपना रुआंसा अनुरोध दुहरा दिया।

उसकी दीनता देखकर सुदामा के मन में ममता उमड़ आई : बेचारा बच्चा ! जाने क्या कहने आया था। उसके लिए तो वह बात अत्यन्त महत्त्व-



“रोहित जो कहता है, उसे कहने दो।” सुदामा ताल-पत्रों को समेटते हुए बोले, “पोथियों और ताल-पत्रों का महत्त्व रोहित नहीं समझता। उसके घर में कोई भी नहीं समझता। वे लोग नासमझ हैं।”

“आप समझते हैं?” ज्ञान की मुद्रा उल्लसित हो उठी।

“हा पुत्र! मैं समझता हूँ तभी तो इन पोथियों को बक्ष से लगाए बैठा रहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम और विवेक—तुम दोनों भाई बड़े होकर इन्हें पढ़ो। वास्तविक ज्ञान प्राप्त करो और बड़े आदमी बन जाओ...” सहसा सुदामा का ध्यान दूसरी ओर चना गया, “विवेक कहां है?”

“मैया मां के साथ गया है।” ज्ञान ने बताया।

“और मां कहां गई हैं?”

“मालूम नहीं।” ज्ञान को इस चर्चा में रुचि नहीं थी, “बड़ा आदमी किसे कहते हैं पिताजी?”

“सामान्यतः हमारा समाज उस व्यक्ति को बड़ा आदमी मानता है, जिसके पास धन हो; पर वास्तविक बड़ा आदमी वह नहीं होता।” सुदामा बोले, “बड़ा आदमी वह होता है जो अपनी पशु-वृत्तियों को त्याग सके और अपनी साधना, त्याग तथा तपस्या से मानव जाति के कल्याण के लिए कोई मार्ग निकाल सके...” आदमी बड़ा न धन से होता है, न ज्ञान से, आदमी बड़ा होता है सदाचार से...”।

सुदामा कहने को तो कह गए, किंतु कहते ही मन-ही-मन डर भी गए, कहीं ज्ञान ने इन बातों को समझा देने का हठ किया तो?...

पर ज्ञान का ध्यान उस ओर नहीं था। बोला, “पिताजी! कोई कहानी सुनाइए।”

“कहानी!” सुदामा ने घबेराहट प्रकट की, “कहानी! कौन-सी कहानी सुनाऊं? मैं तो कहानियां पढ़ता नहीं।”

“मां इतनी अच्छी-अच्छी कहानियां सुनाती हैं।” ज्ञान बोला, “आप क्यों नहीं सुना सकते। आप तो मां से भी बड़े हैं। बाबा भी उस दिन कह कर चले गए। उन्होंने भी कहानी नहीं सुनाई।”

“तो मा से सुन लेना।” सुदामा हंस।

असुविधा हो सकती है, उसका दोष नहीं। यदि काशीनाथ अपने वच्चे की मानसिकता को इस प्रकार विकृत कर रहा है तो सुदामा क्यों अपने पुत्र का कोमल हृदय विपैला करे? काशीनाथ अपढ, मूर्ख और अहंकारी है—क्या सुदामा भी वही है? काशीनाथ के पुत्र और सुदामा के पुत्र के संस्कारों में कुछ तो अंतर होना चाहिए—

“आप कुछ बोलते क्यों नहीं पिताजी?” ज्ञान ने फिर कहा।

“नही बेटे!” सुदामा धीरे से बोले, “रोहित कोपता नहीं है, इसलिए वह ऐसी बातें कहता है। तुम उसकी बातें मत सुना करो। किसी और बालक के साथ खेल लिया करो।”

“उसे क्या पता नहीं है?”

“यही कि...” किस प्रकार कहें कि सच्ची बात भी कही जाए, कटुता भी न आए; बालक अहंकारी और उहड़ भी न बने तथा उसे स्वयं को हीन भी न मानना पड़े—सुदामा सोचते रहे, “प्रत्येक व्यक्ति का काम एक ही जैसा नहीं होता। कोई व्यक्ति अपने घर पर ही काम करता है; और कोई किसी अन्य विशेष स्थान पर। मेरा काम ऐसा है कि मैं उसे घर पर ही करता रहता।” सहसा सुदामा ने उसका चेहरा अपनी हथेलियों में धामकर ऊपर उठाया, “तुम स्वयं देखते हो, मैं सदा काम करता रहता हूँ। तुमने कभी मुझे खासी बैठे या पड़े सोते देखा है?”

“नहीं!” ज्ञान बोला, “आप सदा लिखते रहते हैं या पढ़ते रहते हैं, मुझसे बात ही नहीं करते।”

“ओह! तो अब अपनी ओर से शिकायत होने लगी।” द्रवित हृदय से सुदामा मुस्कराए, “चलो! आज तुमसे खूब जी भर कर बातें करते हैं।”

सुदामा ने ज्ञान को गोद में से उठाकर अपने साथ बैठा लिया, “मैं एक क्षण में इन ताल-पत्रों को समेट लूँ, नहीं तो ये सराब हो जाएंगे।”

ज्ञान कुछ नहीं बोला। वह पिता को ताल-पत्र सहेजते हुए देखता रहा और फिर सहसा बोला, “रोहित यह भी कहता है कि हमारे घर में कोई भी अच्छी वस्तु नहीं है। बस, ताल-पत्र मरे हुए हैं, या पुराने वस्त्रों में लपेट-लपेट कर पोथिया रखी हुई हैं।”

“रोहित जो कहता है, उसे कहने दो।” सुदामा ताल-पत्रों को समेटते हुए बोले, “पोथियों और ताल-पत्रों का महत्त्व रोहित नहीं समझता। उसके घर में कोई भी नहीं समझता। वे लोग जासमक हैं।”

“आप समझते हैं?” ज्ञान की मुद्रा उल्लसित हो उठी।

“हा पुत्र! मैं समझता हूँ तभी तो इन पोथियों की वक्ष से लगाए बैठा रहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम और विवेक—तुम दोनों भाई बड़े होकर इन्हें पढ़ो। वास्तविक ज्ञान प्राप्त करो और बड़े आदमी बन जाओ...।” सहसा सुदामा का ध्यान दूसरी ओर चला गया, “विवेक कहां है?”

“मैया मां के साथ गया है।” ज्ञान ने बताया।

“और मां कहां गई हैं?”

“मालूम नहीं।” ज्ञान को इस खर्चा में रुचि नहीं थी, “बड़ा आदमी किसे कहते हैं पिताजी?”

“सामान्यतः हमारा समाज उस व्यक्ति को बड़ा आदमी मानता है, जिसके पास धन हो; पर वास्तविक बड़ा आदमी वह नहीं होता।” सुदामा बोले, “बड़ा आदमी वह होता है जो अपनी पशु-वृत्तियों को त्याग सके और अपनी साधना, त्याग तथा तपस्या से मानव जाति के कल्याण के लिए कोई मार्ग निकाल सके...। आदमी बड़ा न धन से होता है, न ज्ञान से, आदमी बड़ा होता है सदाचार से...।”

सुदामा कहने को तो कह गए, किंतु कहते ही मन-ही-मन डर भी गए, कहीं ज्ञान ने इन बातों को समझा देने का हठ किया तो?...।

पर ज्ञान का ध्यान उस ओर नहीं था। बोला, “पिताजी! कोई कहानी सुनाइए।”

“कहानी!” सुदामा ने धंवरहाट प्रकट की, “कहानी! कौन-सी कहानी सुनाऊं? मैं तो कहानियां पढ़ता नहीं।”

“मा इतनी अच्छी-अच्छी कहानियां सुनाती है।” ज्ञान बोला, “आप क्यों नहीं सुना सकते। आप तो मां से भी बड़े हैं। बाबा भी उस दिन कह कर चले गए। उन्होंने भी कहानी नहीं सुनाई।”

“तो मा से सुन लेना।” सुदामा हंसे।



“नही ! आप सुनाइए ।” ज्ञान ने हठ किया ।

मुदामा ने पुत्र को निहारा...ज्ञान कभी-कभी इस प्रकार के हठ में पिता के प्रति अपनी प्राथमिकता प्रकट किया करता था ।

“अच्छा सुनो ।” मुदामा कुछ सोचते हुए बोले, “कौन-सी कहानी सुनाऊं ? कोई ऐतिहासिक...”

“कोई तोता-भैना की, चिड़िया और कौवे की...”

सहसा मुदामा को कुछ सूझ गया, “अच्छा कौवों और कोयल की कहानी सुनाता हूँ...”

ज्ञान चुपचाप उनकी ओर देखता रहा ।

“एक वन था । बहुत सघन ।”

“उसमें सिंह था ?”

“सिंह भी था । पर मैं कोयल की कहानी सुना रहा हूँ ।” मुदामा बोले ।

“कोयल थी ?”

“हां ! वहाँ एक पेड़ पर एक कोयल रहा करती थी ।”

“सिंह, कोयल को खा नहीं गया ?” ज्ञान ने पूछा ।

“नही । सिंह कोयल को नहीं खाता । फिर कोयल पेड़ के ऊपर की शाखाओ पर रहती है । सिंह नीचे भूमि पर रहता है ।” मुदामा बोले, “कोयल का स्वर बहुत मधुर होता है । कोयल कूकती है तो ऐसा लगता है, जैसे कोई मधुर गीत गा रहा है...” पर कोयल वाले वृक्ष के चारों ओर कौवे ही कौवे रहते थे ।”

“फिर क्या हुआ पिताजी ?” ज्ञान बहुत उत्सुक हो उठा था ।

“वन में एक बार एक संगीत-सभा हुई ।” मुदामा बोले, “यह निश्चित हुआ कि जो सबसे सुन्दर गाएगा, उसे वन के संगीत-सम्राट की उपाधि दी जाएगी ।”

“फिर क्या हुआ ?”

“फिर संगीत-सम्मेलन हुआ ।” मुदामा ने कहानी आगे बढ़ाई, “उसमें बहुत सारे कौवे भी आए और अन्य पशु-पक्षियों ने भी भाग लिया । कौवों ने कांव-कांव कर बहुत शोर मचाया । अंत में कोयल की बारी आई । जब

कोयल कूकी तो वन के समस्त पशु-पक्षियों ने एकमत से स्वीकार किया कि कोयल निःसंदेह संगीत-सम्राज्ञी है। किंतु सभा में कौवों की संख्या बहुत अधिक थी। इसलिए निर्णायक भी एक कौवा ही था। कौवों ने मिलकर शोर मचाया—‘नहीं ! नहीं !! कोयल के स्वर में तनिक भी संगीत नहीं है। निर्णायक महोदय से पूछ लो। कोयल से तो बहुत सारे कौवे अच्छा गाते हैं।’ इधर कुछ कौवे कोयल के पास पहुंचे। बोले, ‘तुम अच्छा गाती हो, हम मानते हैं। पर तुम कोयल हो, और हम कौवे हैं, इसलिए हम तुम्हारी श्रेष्ठता नहीं मानेंगे। हां ! तुम भी काली हो, हम भी काले हैं ! यदि तुम भी कौवों में मिलकर कौवा हो जाओ, तो हम तुम्हें संगीत-सम्राज्ञी मान लेंगे।’

“यह कैसे हो सकता है ?” ज्ञान बीच में बोला।

“यही बात कोयल ने कही। उसने कहा, ‘कौवा, कौवा ही रहेगा और कोयल, कोयल ही।’ भगड़ा बढ गया और कौवो ने चोंच मार-मार कर कोयल को घायल कर दिया। अंततः कोयल अघमरी हो गई। उसका दुर्बल स्वर कौवों के शोर में डूब गया और कौवे यह कहते हुए उड़ गए कि वन का संगीत-सम्राट् तो कौवा ही हो सकता है। कोयल बेचारी सोचती ही रह गई—काश ! निर्णायक के स्थान पर कोई बाज होता तो इन कौवों को मजा चलाता।”

“हा ! पिताजी ! बाज होता तो कितना मजा आता।” ज्ञान उत्साह में बोला, “इन कौवों को मजा चला देता।”

पर निर्णायक तो बाज ही है...सुदामा सोच रहे थे...क्या कृष्ण बाज नहीं है ? या वह निर्णायक नहीं है ? वह कौवो को मजा क्यों नहीं चलाता ?...

“पिताजी !” ज्ञान फिर बोला, “यह रोहित भी दिन भर कौवों के समान काव-काव करता रहता है पिताजी ! कभी कहता है कि तुम्हारे पास कोई अच्छा खिलौना ही नहीं है और कभी कहता है, मैं बहुत भुक्खड़ हूँ।”

“खिलौने की बात तो समझ में आती है पुत्र !” सुदामा आहत स्वर में बोले, “पर वह तुम्हें भुक्खड़ क्यों कहता है ?”

“मैं उसके घर गया था। उमरी मां ने मुझे लाने के लिए एक बेला दिया। मुझे भूख लगी थी। मैंने बेला खा लिया...”।”

“उन्होंने स्वयं दिया था?” मुदामा ने पूछा, “तुमने मांगा तो नहीं था?”

“नहीं! पर मन होने पर मैं कभी-कभी मांग भी लेता हूँ।” शान निस्संकोच बोला, “दसमें मुद्गाड़ होने की क्या बात है पिताजी!”

“कोई बात नहीं है।” मुदामा का स्वर बहुत धीमा था, “पर तुम अपने आप किंगी से कुछ मत मांगा करो घेते।”

मुदामा का मन, अपने पाग बँठे शान को भूल, दृष्ट-उपर भटकने लगा था...“ये चाहे काशी नाथकी कौवा मानें और स्वयं को कोयल समझें। पर कौवा हो या कोयल—अच्छे माता-पिता तो ये ही होते हैं, जो अपने बच्चों का पालन-पोषण सुधार रूप से करें। क्या कर रहे हैं मुदामा! अपनी उच्छता और श्रेष्ठता की भावना में गोए, बच्चों की क्या स्थिति कर दी है उन्होंने।

उन्होंने शान को अपनी मुजाओं में लेकर उसका मुल धूम लिया। उन्हें लगा कि यदि ये स्वयं को संभाल न पाए तो उनकी आंखों में आंशु बहने लगेंगे—

दोपहर के भोजन के समय तृक सुशीला लौट आई थी। विवेक उसके साथ ही था।

भोजन के लिए जब इकट्ठे बँठे तो मुदामा ने पूछा, “आज कहीं चली गई थी क्या?”

“हां! नगर गई थी।” सुशीला बोली, “सोचा था, लौट कर ही आपसे चर्चा करूंगी।”

“क्यों?”

“वात ही कुछ ऐसी है।” सुशीला मुस्कराई, “जाने से पहले आपसे चर्चा करती तो कुछ विवाद होता, तर्क-वितर्क होता। पता नहीं, आपको अच्छा लगता या नहीं। आप उसी के विषय में सोचते रहते और आपका लेखन-कार्य हो नहीं पाता।”

“लेखन-कार्य तो वैसे भी कुछ विशेष हो नहीं पाया।” सुदामा बोले, “विवेक तुम्हारे साथ चला गया था। ज्ञान यहां अकेला पड़ गया। रोहित के साथ उसकी कुछ कहा-मुनी हो गई तो वह मुझसे चिपक गया। लिखने का काम कैसे होता।” सुशीला का चेहरा कुछ मलिन होते देख, सुदामा ने तत्काल अपना स्वर बदला, “पर मैं ज्ञान की शिकायत नहीं कर रहा हूँ।” उन्होंने हंसकर ज्ञान की ओर देखा और उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरा “हमने खूब बातें की। मैंने ज्ञान को एक कहानी भी सुनाई।” “हैन ज्ञान ?”

“हां मां ! आज हमने पिताजी के साथ खूब मजे किए।” ज्ञान ने हल्की-सी ताली बजाते हुए, अपना उल्लास प्रकट किया।

सुदामा मुग्ध दृष्टि से ज्ञान को देखते रहे : इस बच्चे की अपेक्षाएं कितनी कम हैं। पिता के पास थोड़ी देर बैठकर बातचीत करना भी उसके जीवन की एक घटना है। तो क्या सुदामा अपने बच्चों को इस नैसर्गिक सुख से भी वंचित करते रहे हैं ? ... उन्हें लगा, ज्ञान के इस व्यवहार से उनके सामने एक नई बात खुल रही है... वे जानते हैं कि उनके मन में अपने बच्चों के लिए ममता की कमी नहीं है। पर यह तो केवल वे ही जानते हैं न। बच्चों को तो इसका पता तब ही चलता है, जब वे उसका प्रदर्शन करते हैं : और ऐसा वे कभी-कभी ही करते हैं...

पर ज्ञान के उल्लास से सुशीला अधिक प्रभावित नहीं हुई। उत्साह-पूर्ण, ठंडे स्वर में बोली, “अच्छा है। कभी-कभी पिताजी के साथ भी मजे कर लिया करो।”

सुदामा को सुशीला के व्यवहार में कुछ असहज लगा। ऐसे समय में सुशीला इतनी निरुत्साहित क्यों है ? उसके मन पर कोई बोझ है क्या ? ... प्रातः वह नगरी में भी गई थी। कहां गई थी ? क्या करने ? ...

भोजन के पश्चात् बच्चे कुटिया से बाहर चले गए। कुटिया में एकांत पाकर सुदामा ने पूछा, “नगर क्या करने गई थी सुशीला ?”

“पार्वती के साथ गई थी !”

“काम क्या था ?”

“पार्ष्णी को क्या काम होता है मदन में ?” सुशीला ने परती बार सीधे सुदामा को आँसों में देखा ।

सुदामा को सुशीला के व्यवहार में कुछ तो असहज लग ही रहा था । दस बार के पौरुः यह धाँपी तो नहीं है सुशीला की यात्राभीत भी—

“पार्ष्णी तो...जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी के घर में दासी का काम करती है ।”

“हाँ !” सुशीला ने आँसू दूगरी ओर घेर ली, “मैं भी कोई काम गोत्रने गई थी ।”

“सुशीला !” सुदामा आगे कुछ न कह सके ।

सगा, सुशीला का व्यवहार कुछ महज होने लगा है, “हाँ प्रिय ! मैं भी भगने लिए कोई काम गोत्रने गई थी ।”

“क्या आवश्यकता है तुम्हें...?” कहने को तो सुदामा कह गए, पर प्रश्न का उत्तर उन्हें भी मानूँ मया ।

घोड़ी ढेर तक सुशीला स्वयं को मंभासती रही । फिर भी बोलने के लिए उसे कुछ प्रयत्न करना पड़ा, “मेरे बच्चों को यदि कोई मुकगड़ बहे, तो मुझे अच्छा नहीं लगता । मुझे लगता है कि हमें इतना तो उन्हें उप-सम्प करना ही चाहिए कि कोई उन्हें मुकगड़ न कह सके ।”

“तो उसमें क्या मैं समर्थ नहीं हूँ ?” सुदामा ने जैसे याविक चिंतन किया ।

“मैं यह तो नहीं कहती :” सुशीला बोली, “आप समर्थ हैं । पर आपके सामर्थ्य को थोड़ा-सा धन अजित करने जैसे साधारण कार्य में लगाना, मुझे उनका अपव्यय लगता है । मैं आपकी सगिनी हूँ । बच्चों की माँ हूँ । यदि मैं भी कुछ जुटा सकूँ, तो आप इन छोटी-मोटी पिताओं से मुक्त होकर, कुछ उच्चतर कार्य कर पाएँगे, जो मैं नहीं कर सकती ।”

सुदामा ने अपनी परती को देखा : यह नारी अपनी धास्तीनता में परति से यह नहीं कह रही कि वे अपने परिवार के भरण-पोषण में असमर्थ हैं । उल्टे यह कह रही है कि वे ये छोटे-छोटे काम न कर, बडे और उच्चतर कार्य करें । सचमुच वह सगिनी है उनकी ।

“तो तुम दासी का काम करोगी ?” सुदामा चिंतित थे ।

सुशीला हंस पड़ी, "नही ! दासी का काम तो नहीं करूंगी ।... पार्वती के साथ गई थी, इसलिए कह रहे हैं ?" वह रुकी, "वह बेचारी तो और कुछ कर नहीं सकती, इसलिए दासी का ही काम करती है ।"

"तो तुम कैसा काम खोजने गई थीं ?"

"कोई भी काम । जिसके लिए किसी पढी-लिखी महिला को आवश्यकता हो ।"

"तुमने कुछ सोचा तो होगा ।" सुदामा बोले, "ऐसे ही तो नहीं चल पड़ी होंगी तुम !"

"मैंने कुछ विशेष नहीं सोचा है," सुशीला बोली, "पार्वती से बात हुई थी तो उसने यही कहा था कि हमारे गांव में तो कोई काम है नहीं । किसी भी गांव में नहीं होता । गांव में केवल खेती होती है और खेतों में कम्मकरों की ही आवश्यकता होती है । परं नगर का जीवन कुछ अधिक जटिल होता है । वहां कई प्रकार के काम होते हैं । वहां के लोगों के पास धन भी अधिक होता है । गांव का आदमी तो काम कराना ही जानता है । पैसा देते हुए उसके प्राण निकलते हैं ।"

"ठीक कहती है पार्वती !" सुदामा बोले, "नगरी में कई प्रकार के काम होते हैं । वहां धन भी अधिक होता है । पर वहां के लोग गांव वालों से अधिक धूर्त भी होते हैं ।... किंतु काम क्या करोगी ?"

"मैंने तो सोचा था, किसी लड़की को पढ़ाना हो, या किसी धनी बूढ़ा अथवा रोगिणी महिला को कोई ग्रन्थ पढ़कर सुनाना हो..."

"मिला कोई काम ?"

"नही ! अभी तो काम क्या, कोई आश्वासन भी नहीं मिला ।" सुशीला बोली, "पार्वती के साथ गई थी । पार्वती जिन लोगों को जानती है, मा जिन घरों से उमका संपर्क है, वे लोग उतने संपन्न नहीं हैं । उन घरों में वर्तन साफ करने, कपड़े धोने, सफाई करने, खाना पकाने या इसी प्रकार के और काम हैं, जो कोई भी स्त्री कर सकती है । उसके लिए शिक्षित होने की आवश्यकता नहीं है । इन कामों में परिश्रम अधिक और पारिश्रमिक बहुत कम है ।" सुशीला अपने प्रवाह में बोलती जा रही थी, "मैं सोच रही थी कि काशीनाथ से बात की जाए । वह जिस घर में काम

“पार्वती को क्या काम होता है नगर में ?” सुशीला ने पहली बार सीधे सुदामा की आंखों में देखा ।

सुदामा को सुशीला के व्यवहार में कुछ तो असहज लग ही रहा था । इस बार वे चौंके : यह शैली तो नहीं है सुशीला की बातचीत की—

“पार्वती तो...जहां तक मैं जानता हूं, किसी के घर में दासी का काम करती है ।”

“हां !” सुशीला ने आंखें दूसरी ओर फेर ली, “मैं भी कोई काम खोजने गई थी ।”

“सुशीला !” सुदामा आगे कुछ न कह सके ।

लगा, सुशीला का व्यवहार कुछ सहज होने लगा है, “हां प्रिय ! मैं भी अपने लिए कोई काम खोजने गई थी ।”

“क्या आवश्यकता है तुम्हें...?” कहने को तो सुदामा कह गए, पर प्रश्न का उत्तर उन्हें भी मालूम था ।

थोड़ी देर तक सुशीला स्वयं को संभालती रही । फिर भी बोलने के लिए उसे कुछ प्रयत्न करना पड़ा, “मेरे बच्चों को यदि कोई मुक्कड़ कहे, तो मुझे अच्छा नहीं लगता । मुझे लगता है कि हमें इतना तो उन्हें उपलब्ध कराना ही चाहिए कि कोई उन्हें मुक्कड़ न कह सके ।”

“तो उसमें क्या मैं समर्थ नहीं हूँ ?” सुदामा ने जैसे वाचिक चिंतन किया ।

“मैं यह तो नहीं कहती ।” सुशीला बोली, “आप समर्थ हैं । पर आपके सामर्थ्य को थोड़ा-सा धन अर्जित करने जैसे साधारण कार्य में लगाना, मुझे उसका अपव्यय लगता है । मैं आपकी संगिनी हूँ । बच्चों की मां हूँ । यदि मैं भी कुछ जुटा सकू, तो आप इन छोटी-मोटी चिंताओं से मुक्त होकर, कुछ उच्चतर कार्य कर पाएंगे, जो मैं नहीं कर सकती ।”

सुदामा ने अपनी पत्नी को देखा : यह नारी अपनी शालीनता में पति से यह नहीं कह रही कि वे अपने परिवार के भरण-पोषण में असमर्थ हैं । उल्टे यह कह रही है कि वे ये छोटे-छोटे काम न कर, बड़े और उच्चतर कार्य करें । सचमुच वह संगिनी है उनकी ।

“तो तुम दासी का काम करोगी ?” सुदामा विवक्षित थे ।

सुशीला हंस पड़ी, "नही ! दासी का काम तो नहीं कहेंगी !... पावेंती के साथ गई थी, इसलिए कह रहे हैं ?" वह स्की, "वह बेचारी तो और कुछ कर नहीं सकती, इसलिए दासी का ही काम करती है ।"

"तो तुम कौसा काम खोजने गई थी ?"

"कोई भी काम । जिसके लिए किसी पढ़ी-लिखी महिला की आवश्यकता हो ।"

"तुमने कुछ सोचा तो होगा ।" सुदामा बोले, "ऐसे ही तो नहीं चल पड़ी होंगी तुम ।"

"मैंने कुछ विशेष नहीं सोचा है," सुशीला बोली, "पावेंती से बात हुई थी तो उसने यही कहा था कि हमारे गांव में तो कोई काम है नहीं । किसी भी गांव में नहीं होता । गांव में केवल खेती होती है और खेतों में कम्मकरो की ही आवश्यकता होती है । परं नगर का जीवन कुछ अधिक जटिल होता है । वहां कई प्रकार के काम होते हैं । वहां के लोगों के पास धन भी अधिक होता है । गांव का आदमी तो काम कराना ही जानता है । पैसा देते हुए उसके प्राण निकलते हैं ।"

"ठीक कहती है पावेंती !" सुदामा बोले, "नगरी में कई प्रकार के काम होते हैं । वहां धन भी अधिक होता है । पर वहां के लोग गांव वालों से अधिक धूर्त भी होते हैं ।... किंतु काम क्या करोगी ?"

"मैंने तो सोचा था, किसी लड़की को पढाना हो, या किसी घनी बूढ़ा-अथवा रोगिणी महिला को कोई ग्रन्थ पढकर सुनाना हो..."

"मिला कोई काम ?"

"नही ! अभी तो काम क्या, कोई आश्वासन भी नहीं मिला ।" सुशीला बोली, "पावेंती के साथ गई थी । पावेंती जिन लोगों को जानती है, या जिन घरों से उसका संपर्क है, वे लोग उतने संपन्न नहीं हैं । उन घरों में बर्तन साफ करने, कपड़े धोने, सफाई करने, खाना पकाने या इसी प्रकार के और काम हैं, जो कोई भी स्त्री कर सकती है । उसके लिए शिक्षित होने की आवश्यकता नहीं है । इन कामों में परिश्रम अधिक और पारिश्रमिक बहुत कम है ।" सुशीला अपने प्रवाह में बोलती जा रही थी, "मैं सोच रही थी कि काशीनाथ से बात की जाए । वह जिस घर में काम



करता है, वह कुछ संपन्न घर है। संभव है, उस घर में या उन्हीं के किन्हीं परिचितों में मेरे लिए कोई काम निकल आए।”

सुदामा को लगा, सुशीला के प्रत्येक वाक्य के साथ, उनके मन में भी एक प्रतिक्रिया जन्म लेती है, किंतु अगले ही वाक्य के साथ वह बदल जाती है—सुशीला नगर गई थी, कोई काम खोजने—इस सूचना के साथ ही उनके मन में जैसे कोई भय समा गया था—किस बात का भय था, वे नहीं जानते। यह केवल एक नई बात का घबका नहीं था। नई बात तो सुखद भी हो सकती है। पर यह सूचना उनके लिए सुखद नहीं थी। क्यों? उनके गाँव में अनेक स्त्रियाँ काम करती हैं। पार्वती जैसी स्त्रियाँ नगर में भी जाती हैं। पर वे सब स्त्रियाँ उन्हीं परिवारों की हैं, यहाँ पुरुष या स्त्रियाँ—श्रमिक अथवा कम्मकर ही हैं। पढ़े-लिखे ब्राह्मण अथवा आचार्य कुल की स्त्रियाँ लोगों के घर में सँरिध्री अथवा दासी का काम नहीं करती फिरती।—सँरिध्रियों और दासियों का काम तो राजाओं और महा-राजाओं के घरों में होता है। साधारण गृहस्थों के घरों में तो बर्तन-भाँडे साफ करने का काम ही मिलेगा—आचार्य कुल की बहू, दार्शनिक सुदामा की सुशिक्षित पत्नी सुशीला—अब लोगों के घरों में बर्तन-भाँडे साफ करेगी?—

सुदामा का मन कांप गया। क्या वे इतने असमर्थ हैं?—

सुशीला को काम नहीं मिला, यह जानकर उनके मन पर से जैसे एक बोझ हट गया था—उन्हें प्रसन्नता हुई थी।—पर यह प्रक्रिया यही तो नहीं धम गई है। सुशीला, कल भी काम खोजने जाएगी, परसों भी—जब तक उसे काम मिल नहीं जाएगा। कभी-न-कभी तो उसे काम मिल ही जाएगा। और जब सुशीला काम करने लगेगी, तब लोग यह नहीं कहेंगे कि यह वे सुदामा हैं, जो उच्च कोटि के दार्शनिक हैं; न कोई यह कहेगा कि ये वह सुदामा हैं, जो ऋषि सादीपनि के शिष्य तथा कृष्ण वासुदेव के मित्र हैं। लोग कहेंगे, यह वह सुदामा है, जिसकी पत्नी अमुक के घर में दासी का काम करती है—दार्शनिक और विद्वान् सुदामा नहीं, ऋषि-शिष्य और राज-सखा सुदामा नहीं—दासी-पति सुदामा।

.. सुदामा की व्याकुलता कुछ ऐसी बढ़ी कि वे उठ खड़े हुए। इच्छा:

हुई कि कहें, 'सुदीला । तुम आर्थिक उपार्जन कर, जिस उच्चतर कार्य के लिए मुझे मुक्त कर देना चाहती हो, तुम्हारी चाकरी क्या मेरे उसी उच्चतर कार्य में बाधा नहीं डालेगी?'...पर उन्होंने कुछ कहा नहीं । जब कुटिया के द्वार की ओर पग उठ गए तो बड़ी कठिनाई से इतना ही कह सके, "मैं थोड़ी देर के लिए, बाहर खुली हवा में बैठूंगा ।"

"इस समय बाहर हवा गर्म होगी ।" सुशीला ने पीछे से पुकार कर कहा ।

मुदामा ने मुड़कर नहीं देखा । कुछ कहा भी नहीं ।

बाहर निकलकर कुछ दूर तक तो मुदामा चलते ही चले गए । पर जब धूप अधिक लगने लगी तो ध्यान आया कि उन्हें किसी वृक्ष की छाया में बैठ जाना चाहिए । उन्होंने सुशीला से भी तो यही कहा था न कि वे बाहर खुली हवा में बैठेंगे । वह बाहर निकलकर उन्हें देखेगी, तो कहां पाएगी ?

वे मुड़कर, वापस अपनी कुटिया की ओर चल पड़े ।

इतनी बात तो वे भली प्रकार समझ गए थे कि सुशीला की चाकरी की बात से वे बुरी तरह हिल गए हैं । पर क्यों ? केवल इसलिए क्योंकि वह स्त्री है ? स्त्री के अर्थोपार्जन से सिद्धांततः उनका कोई विरोध नहीं था ।

अपनी कुटिया के निकट ही वे शमी के वृक्ष के नीचे बैठ गए । वृक्ष घना और छायादार था । उसके तने के साय-साय, मफाई कर, बैठने के लिए थोड़ा स्थान मुदामा ने बना रखा था । कई बार मन में आता था कि यहां कुछ मिट्टी डालकर, इस स्थान को ऊंचा कर, बैठने के लिए एक अच्छा-सा मंच बना लिया जाए । जब कभी भी उनका गुरुकुल बनेगा, वे इस पर बैठ, छात्रों को पढ़ाया करेंगे...पर न उनके पास समय था और न उनके पास सहयोगी ही थे, जो यहां मिट्टी डाल-डाल कर ऐसा स्थान बना देते ।

...कृष्ण कहा करता था कि ब्रज में गोपिकाएं भी कार्य किया करती थीं । सभी कृषक और गोप स्त्रियां कार्य करती ही हैं ।...पर वे लोग चाहें तो खेतों में कार्य करें, या अनाज बेचने हाट में जाएं; गोपन चराएं, दूध

हुँ, दूध-दही-मक्खन बेचने नगर में जाएँ—ये सब तो उनके अपने घर के काम हैं। अपना परिश्रम, अपना उत्पादन और अपना व्यापार—उनमें से कोई दासी का काम तो नहीं करनी, कोई किसी अन्य संपन्न परिवार में चाकरी तो नहीं करती”

सुशीला कह रही थी कि यह इम संदर्भ में काशीनाथ से बात करने की सोच रही है—काशीनाथ। आज प्रातः ही सुदामा ने काशीनाथ के विषय में क्या कुछ नहीं सोचा था। उन्होंने उसे हर प्रकार में हीन और स्वयं को उच्च ठहराया था। पर अब ? अब उनकी पत्नी, उसी काशीनाथ से सहायता माँगेगी, किसी छोटी-मोटी चाकरी के लिए।

उनके मन में आया कि अभी जाकर सुशीला से कह दें कि यह कही नहीं जाएगी, कोई चाकरी नहीं करेगी। यह उनका आदेश है। “पर आदेश ! पति का पत्नी को आदेश !” क्या अधिकार है पति को, पत्नी को आदेश देने का ? वे दोनों समानता के आधार पर तुल्य-दूमरे के गह-पारी हैं, मित्र हैं, संगी हैं। “वे उगके साथ बातचीत कर सकते हैं, तर्क कर सकते हैं, समझा सकते हैं; पर आदेश नहीं दे सकते—किन्तु क्या तर्क है सुदामा ? यह कि वे दर्शनशास्त्र के प्रकांड पंडित हैं, दृग्गति, उनकी पत्नी को अर्धोपार्जन का अधिकार नहीं है। यह कि उनके बच्चों को प्रत्येक विद्वान् की सतानें होने के कारण भ्रष्ट करने का अधिकार है”

पर क्यों करना चाहती है सुशीला, चाकरी ? यदि सुदामा अपनी भाव बढ़ा सें, यदि वे अपने बच्चों का पालन-पोषण संपन्नता में कर सकें “पर कित बड़ा सें सुदामा अपनी आय ? क्या उगोंने पहले प्रयत्न नहीं किया ?” पर सुशीला के मन में यह बात आई कही में ? पहले उगने कभी ऐसी चर्चा नहीं की। दोनों में कभी दृग् विषय में वार्तालाप नहीं हुआ।

सुदामा कुटिया में आया।

“तुम्हें काम करने का विचार कही में आया सुशीला ?”

आश्चर्यचकित स्वर में उगरे सुशीला ने तिर उठाकर सुदामा को देखा, “तब से कही सोचें जा रहे हैं ?” यह मुश्किल है, “आज दर्शनशास्त्र की छुट्टी ! ऐसे भी आदमी तुम्हें पूरे नहीं छोड़ेंगे।”

“आज मैं स्त्रियों द्वारा अर्थोपाजन के दार्शनिक पक्ष पर विचार कर रहा हूँ।”

“यह दर्शनशास्त्र की कौन-सी शाखा है?”

“व्यावहारिक शाखा! दर्शनशास्त्र आखिर है क्या?” सुदामा के स्वर में झल्लाहट थी, “जीवन की गुत्थिया न सुलझा पाए तो उस दर्शन का हमें क्या करना है।”

‘ठीक है। सुलझाए।’ सुशीला बोली, “और जिस निष्कर्ष पर पहुंचें, वह मुझे भी बता दीजिएगा।”

“तुमने बताया नही”, सुदामा बोले, “यह विचार तुम्हारे मन में कहां से आया?”

“बाबा ने कहा था कि यदि मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ तो आप अपने ग्रंथ को कुछ अधिक समय दे सकेंगे।”

सुदामा अवाक् खड़े रह गए। बाबा ने सुशीला से यह कहा और सुदामा से ठीक इसके विपरीत बात कही। उनसे कह गए कि वे गृहस्थी की ओर कुछ अधिक ध्यान दें... बाबा, उन दोनों को संतुलन की ओर लाने का प्रयत्न कर रहे थे...

“बैठ जाइए।” थोड़ी देर बाद सुशीला ने कहा, “आप जिस बात से परेशान हैं, वह मुझसे कह-सुन क्यों नहीं लेते?”

सुदामा, सुशीला की ओर देखते रहे : क्या कहें कि उन्हें उसका, उनकी आधिक सहायता करने का प्रयत्न सुखद नहीं लग रहा। क्यों? इसका कोई उत्तर उनके पास नहीं है—सिवाय पुरुष के अहंकार के...

“कह-सुन लेंगे।” अंत में सुदामा बोले, “पर अभी थोड़ी देर मुझे कुछ और मनन करना है।”

सुदामा कुटिया में रुके नहीं। बाहर चले आए और आकर फिर उसी दामी वृक्ष के नीचे बैठ गए। उनके मन में कोई हंसा भी... वे तो आकर यहां ऐसे बैठ रहे हैं, जैसे यह कोई सिद्ध-पीठ हो, और अपनी समस्या का समाधान उन्हें यहीं मिलेगा।

सुदामा पुनः अपने-आपसे वही प्रश्न पूछ रहे थे : उन्हें सुशीला का चाकरी करने का विचार क्यों इतना व्याकुल किए हुए है?—एक उत्तर

तो बड़ा सीधा था कि यह पुरुष-प्रधान समाज है। इसमें परंपरा से, आर्थिक अधिकार, पुरुष को ही प्राप्त हैं। परिवार के पोषण के लिए अर्थोपार्जन का दायित्व पुरुष का है। यद्यपि कम्मकर महिलाओं ने इस परंपरा को तोड़ा है; पर उनका संबंध कुछ विशेष स्थिति के परिवारों और विशिष्ट व्यवसायों से रहा है। सुदामा का परिवार आर्थिक दृष्टि से चाहे कितना गया-बीता हो, किन्तु अपनी स्थिति उन परिवारों की-सी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। वे अपनी सामाजिक स्थिति ऊंची मानते हैं किन्तु उस स्थिति को बनाए रखने के लिए उनके पास आर्थिक आधार नहीं है। बिना आर्थिक आधार के, सामाजिक स्थिति बन नहीं सकती। ‘‘पता नहीं, बाबा ने सुशीला को ऐसा संस्कार-तोड़क परामर्श कैसे दे दिया।’’ न सुदामा इसे स्वीकार कर पा रहे हैं और न विरोध का ही कोई आधार उनके पास है—वे कैसे स्वीकार कर लें कि उनके परिवार की भी सामाजिक स्थिति उन्हीं घरों की-सी है, जिनकी स्त्रियाँ पारि-श्रमिक लेकर बाहर काम करती हैं—‘‘कम्मकर महिलाएं—‘‘श्रमिक महिलाएं’’

सहसा उनके मन में आया, नहीं ! बात केवल सामाजिक स्थिति की ही नहीं है। काम करने के लिए घर से बाहर निकलने वाली स्त्रियों के सम्मुख कुछ कठिनाइयाँ हैं। वे बाहर निकलेंगी तो विभिन्न प्रकार के लोगों से उनका सामना होगा। उनमें कुछ अच्छे लोग होंगे, तो कुछ दुष्ट भी तो होंगे। उन दुष्टों से उनकी रक्षा कौन करेगा ? स्त्री शरीर से निर्बल है। वह अपनी रक्षा में सक्षम नहीं है। सुशीला ही किसी के घर काम करे। कैसा ही सम्मानजनक काम क्यों न हो—पर व्यक्ति कैसे होगा, कौन कह सकता है। चाकरी करने के लिए घर से बाहर भेजने से पहले उसकी सुरक्षा का प्रबंध तो करना होगा—

और यदि काम करने का स्थान सुरक्षित हो तो ? सहसा उनके मन में दूसरा स्वर उठा—तब क्या सुशीला की चाकरी में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी ?

हां ! शायद न ही हो आपत्ति ! पर सुरक्षित स्थान है कहाँ ?

क्यों नहीं ? मान लो, सुशीला को द्वारका में कृष्ण के महल में कोई

कार्य मिल जाए...

सुदामा स्तब्ध रह गए।...उनके अपने ही मन में कौसी-कौसी बातें उठ रही हैं। वे इतने पतित हो गए हैं कि अपनी पत्नी की कल्पना, अपने मित्र की दासी के रूप में कर रहे हैं। स्वयं तो कृष्ण के पास इसलिए नहीं जाना चाहते, कि याचना से उनका वह सम्मान नहीं रह पाएगा। सुशीला उस महल में दासी बन गई, तो क्या उनका सम्मान वही रह पाएगा ?

रात को बच्चे सो गए तो सुदामा धीरे से बोले, "सुनो !"

सुशीला ने उनकी ओर देखा।

"क्या कल भी तुम चाकरी खोजने नगर जाओगी ?"

"सोचा तो यही है, पर यदि आपको आपत्ति न हो तो।"

"आपत्ति करने का अधिकार मुझे नहीं है सुशीला।" सुदामा का स्वर कंप गया, "मैंने आज दिन भर में, बहुत सोचा है। सिद्धांततः मैं स्त्रियों के कार्य करने के विरुद्ध नहीं हूँ। पर कुछ संस्कार बांध रहे हैं और कुछ परिस्थितियां मुझे सुरक्षित नहीं लगती।...कल्पना करता हूँ कि यदि मैं भी अपने परिवार का अच्छी तरह भरण-पोषण करने में समर्थ होता। हमें कोई आर्थिक तंगी न होती। मैं भी दोनों हाथों से धन बहा सकता; और तब तुम अर्धोपार्जन के लिए कोई काम करती, तो शायद मुझे इतना कष्ट न होता।...पर आज की इन परिस्थितियों में, तुम्हारा अर्धोपार्जन मेरी असमर्थता और अक्षमता को रेखांकित करेगा। इससे... यदि सच-सच कहूँ तो...मेरा अहंकार आहत होता है। पर सुशीला!" सुदामा ने साहस कर अपनी पत्नी की ओर देखा, "तुम्हें रोकने का मुझे कोई नैतिक अधिकार नहीं है। पर, फिर भी चाहता हूँ कि मुझे प्रयत्न का एक अवसर और दो। यदि इस बार असफल रहा तो तुम्हें एकदम नहीं रोकूंगा...सच कहता हूँ, एकदम नहीं रोकूंगा।"

"आप क्या कह रहे हैं प्रिय!" सुशीला उठकर उनके पास आ गई, "मेरी इच्छा तो केवल घर का बोझ उठाने में आपकी सहायता करने की है, सहयोग की। आपको असम या हेठा प्रमाणित करने की बात..."

सुदामा ने याचक आंखों से उसकी ओर देखा, "मुझे एक अवसर दो सुशीला । एक अवसर ।"

"ऐसे न कहें प्रिय ! ऐसे नहीं ।" सुशीला ने सुदामा के कंधे पर पहले हाथ रखा और फिर अपना सिर टिका दिया, "जब तक आप पूरी तरह से नहीं चाहेंगे, मैं एकदम चाकरी नहीं करूंगी ।" उसने अपना सिर उठा कर सुदामा को देखा, "आपको सूचना दिए बिना नगर जाना उचित नहीं था । मुझे क्षमा करो प्रिय !"

सुदामा ने उसके बालों में उगलियां फिराईं, "नहीं । तुमसे कोई भूल नहीं हुई है । तुमने कुछ भी गलत नहीं किया...उल्टे तुमने तो मुझे जगा दिया है । "मुझे अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिए ।"

"कहाँ जाएंगे ?"

"कहीं भी । किसी भी श्रेष्ठि के पास । श्रेष्ठि धनदत्त के पास ही चला जाऊंगा ।"

"एक बात कहूँ प्रिय ! मानेंगे ?" सुशीला का स्वर पिघला हुआ था ।

"कहो ।"

"जब याचना ही करनी है तो तलैया से क्या करनी, सागर से ही कीजिए ।"

"क्या अभिप्राय है तुम्हारा ?" सुदामा कुछ-कुछ समझ रहे थे ।

"जब जाने ही लगे हैं, तो श्रेष्ठि धनदत्त के पास क्यों, अपने मित्र कृष्ण के पास ही जाएं...।"

सुदामा कुछ नहीं बोले ।...आज संध्या समय, उनके मन में, सुशीला की चाकरी के संदर्भ में कृष्ण की बात आई थी । "ठीक कहती है सुशीला । कृष्ण के पास जाना, उनके लिए सरल होगा, । याचना तो याचना ही है, तो क्यों न कृष्ण से...क्यों हठ कर रहे हैं वे । एक व्यर्थ की बात पर अड़े हुए हैं..."

"जाने को तो मैं कृष्ण के पास भी चला जाऊँ ।" थोड़ी देर बाद वे बोले, "पर सोचता हूँ कि जब वह मेरा मित्र था, तो मात्र एक साधारण नायक का पुत्र था और अब कृष्ण, सारे जंबूद्वीप की राजनीति का संचा-

सक है।...जाने अब वह कैसा व्यवहार करे।”

“उस दृष्टि से सोचें तो जाने श्रेष्ठ धनदत्त कैसा व्यवहार करे। और फिर कृष्ण कुछ भी हो जाएं, आपके मित्र तो हैं ही। जब आपके मित्र थे, तब भी वे कंस का वध कर, ख्याति तो पा ही चुके थे।...अब अपने मित्र का अपमान करेंगे, क्या वे ? वे इतने अशिष्ट हैं क्या ?” और फिर जैसे उसने राधास जोड़ा, “प्रत्येक व्यक्ति पांचाल नरेश द्रुपद तो नहीं होता।”

“हां !” सुदामा कुछ सोचते रहे, “कुछ भी हो, कृष्ण शिष्टाचार का निर्वाह तो करेगा ही। वैसा शालीन व्यक्ति...पर मात्र शिष्टाचार की कृत्रिमता से भी तो मेरा दम घुटने लगता है।” सहसा हककर उन्होंने सुशीला को देखा, “कहती हो तो चला जाऊंगा, पर अपने मुंह से मागूंगा कुछ नहीं। अपनी दुर्दशा को चर्चा नहीं करूंगा।...”

“ठीक है।” सुशीला उत्साहित हो उठी, “गचना का एक शब्द भी नहीं प्रिय ! आप यही समझें कि किसी से कोई सहायता लेने नहीं, आप अपने एक मित्र से मिलने जा रहे हैं।”

“ठीक है ! चला जाऊंगा।” सुदामा का असमंजस अभी समाप्त नहीं हुआ था।

“कब ? कल प्रातः ?”

“जब जाना ही है तो कल प्रातः ही सही।” सुदामा बोल।

सुशीला ने एक क्षण के लिए पति को भरपूर दृष्टि से देखा और फिर अपना सिर उनकी गोद में रख दिया, “ओह प्रिय !”

सात

चलते-चलते प्रहर भर बीत चुका था।

चलने में उन्हें कोई विशेष कष्ट नहीं था। बचपन में अपने पिता के साथ भी वे पैदल यात्राएं करने के अभ्यस्त थे। गुरु सादीपनि का अनुशासन



तो और भी कठोर था। सारी सुविधाएं होने पर भी वे धरती पर पैदल यात्राएं ही करते थे। जल की बात और थी—जल पर तो पैदल चला नहीं जा सकता था, नौका लेनी ही पड़ती थी। किन्तु, स्थल-यात्रा के समय यदि संघ में साथ-साथ चलने वाले हाथी, घोड़े तथा रथ भी हों, तो भी वे पैदल ही चलते थे और अपने शिष्यों को पैदल ही चलाते थे। पालकी से तो वे घृणा करते थे। मनुष्य होकर, मनुष्य के कंधों पर चढ़ कर यात्रा करने को बबरता मानते थे। ‘‘और कितनी लम्बी यात्राएं’’ उज्जयिनी से मथुरा और उज्जयिनी से प्रभास। जब पहली बार कृष्ण, बलराम और उद्धव, ब्रह्मचारी के रूप में उनके संघ में सम्मिलित होकर, मथुरा से उज्जयिनी के लिए चले थे, तो साथ कितने ही राजपरिवार और उनके वाहन थे; किन्तु गुरु ने किसी ब्रह्मचारी को वाहनों में यात्रा करने की अनुमति नहीं दी थी—कृष्ण को भी नहीं। सभी पैदल चले थे। ‘‘आश्रम छोड़ने के बाद भी, सुदामा ने कभी किसी सवारी पर यात्रा नहीं की थी। क्षमता ही नहीं थी। जब पेट भर खाने और तन ढकने के लिए पर्याप्त कपड़ा भी न हो, तो व्यक्ति वाहन और सवारी की बात क्या सोचे।’’ बहुत चर्चाएं थी, इस देश में दान की महिमा की। प्रत्येक राजा, सामंत, नायक, ठाकुर, ग्रामप्रमुख, श्रेष्ठि और सद्गृहस्थ ब्राह्मणों को सैकड़ों-हजारों गौं दान कर देता था। ऋषियों के आश्रमों में गोधन बहुत बड़ी संख्या में होता था। पर सुदामा को तो आज तक किसी ने एक बकरी भी नहीं दी।

सहसा सुदामा के मन में एक विरोधी स्वर उठा ‘‘किसी को क्यों कलंक लगाते हैं वे। जहां कहीं कुछ मिलने की संभावना होती है, वहां कभी गए भी वे? गांव के निर्धन खेतियों के बच्चों को पढ़ाने से दो मुट्ठी अन्न ही तो मिलेगा। दान भी तो अपनी क्षमता के अनुसार ही दिया जाता है। उन्होंने भी गुरु सादीपनि के समान राजाओं, राजकुमारों और राजपुरुषों को शिक्षा दी होती तो उनका भी आश्रम होता और उस आश्रम में गोधन होता। राजा लोग उन्हें सोना-चादी भी देते और रत्न-आभूषण भी। पर राजाओं को सुदामा क्या शिक्षा देंगे? राजाओं को शस्त्र-शिक्षा चाहिए। राजनीति और युद्धों की शिक्षा चाहिए। इनका ज्ञान न सुदामा के पिता को

था, न सुदामा को है। जब वे राजाओं के लिए उपयोगी शिक्षा नहीं दे सकते तो राजा लोग उन्हें गोधन क्यों देंगे ? उनकी चिन्ता क्यों करेंगे ? राजाओं के लिए उपयोगी होने पर न द्रोणाचार्य को धन-धान्य की कमी रही, न परशुराम को, न गुरु साद्वीपनि को, न यर्गाचार्य को...

पर क्यों सोच रहे हैं सुदामा यह सब ?

उन्होंने तो सदा यही माना है कि उनका लक्ष्य धन नहीं है। वे अर्थो-पार्जन के लिए कभी कुछ नहीं करते और कुछ नहीं करेंगे। उनका सोना-चांदी, रत्नाभूषण, गोधन, हाथी-घोड़े, सब कुछ तो उनका ज्ञान है। प्रकृति को समझने का प्रयत्न, मनुष्य की स्थिति की खोज, सृष्टि के गुह्यतम भेदों से साक्षात्कार—सुदामा क्या है, कहां से आए हैं, कहां जाएंगे ? जन्म से पहले भी क्या जीव की कोई स्थिति होती है ? मृत्यु के पश्चात् वह कहां जाता है ? इस सृष्टि का स्रष्टा कोई है क्या ? यदि है, तो उसका स्वरूप क्या है ? और यदि नहीं है, तो कौन चलाता है इसे ? कौन बनाता है ? ... इन सब के बीच सोना-चांदी और हाथी-घोड़े का क्या काम ? ...

तो फिर क्यों सुदामा का ध्यान बार-बार अपनी विपन्नता की ओर चला जाता है ? क्यों उनका मन शिकायतें करने लगता है ? क्यों उनके मन में कामना जागने लगती है ? बुद्धि के घरातल पर वे स्वीकार करते हैं कि भौतिक सुख, वास्तविक सुख नहीं है। वह जीवन का लक्ष्य नहीं है। सामाजिक महत्त्व, और सम्मान कोई अर्थ नहीं रखता। ज्ञान प्रमुख है, शेष सब कुछ गौण। तो फिर क्यों किसी की महत्त्व और सम्मान पाते देखाकर उनके मन से तत्काल अपना अभाव उफन-उफन कर बाहर आने लगता है ? ... जब उनके पुत्र—ज्ञान और विवेक—ब्रह्म का ही रूप है तो उनकी दुखी अथवा उदास देखकर, उनका हृदय क्यों पिघल-पिघल जाता है ...

क्या जीवन की आवश्यकताएं इतनी कठोर हैं कि उनका अभाव संसार में सारा ब्रह्मज्ञान भुला देता है ? क्या मनुष्य का शरीर रहते हैं नामों, इच्छाओं, कामनाओं, तृष्णाओं को नहीं जीता जो संसार का बड़े से बड़ा चिन्तक, दार्शनिक, वैरागी, संन्यासी ही है ? मानव शरीर की दुर्वनताओं का पुत्र मात्र ? संसार में ब्रह्मज्ञान लोगों को धोखा देने की आड़ है...

शोभा-विलास ? या कम जीवनी-शक्ति वाले लोगों के लिए सांत्वना मात्र ? क्या सांसारिक जीवन के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है ? ...

सुदामा ठहर गए । दोपहर होने को आई थी । उन्हें कहीं थोड़ा सुस्ता लेना चाहिए । उन्होंने पहली बार सजग होकर, बाहर के संसार को देखा । अब तक तो उनकी आंखें अपने भीतर ही लगी हुई थी । ... इस मार्ग पर वे बहुत दिनों से आए नहीं थे । बहुत पहले जब इधर से आए थे, तो सारा क्षेत्र अधिकांशतः वन ही था । कहीं-कहीं दो-चार कुटीर बनाकर, कुछ वनवासी लोग रहते दिखाई पड़ते थे । ग्राम तो बहुत दूर-दूर थे । पुरवे और नगर तो अंगुलियों पर गिने जा सकते थे । जहां कहीं कोई राजा अपना दुर्ग बना लेता था, वही एक नगर बन जाता था । उसके आसपास कुछ दूरी तक कुछ ग्राम बस जाते थे । ... पर बड़े राजा भी कितने थे । आर्यों के राज्य तो सरस्वती, गंगा और यमुना के तटों पर ही अधिक थे । पश्चिम की ओर, उनमें से यदु के पुत्र ही बड़े थे । शेष अधिकांशतः भागवतों की बस्तियां थीं । जमदग्नि पुत्र परशुराम ने इस क्षेत्र में बहुत निर्माण किया था । अवन्ति के पश्चात् चेदि, विदर्भ और सौराष्ट्र ...

सुदामा ने सिर को झटका । वे फिर मानसिक इतिहास, भूगोल में भटक गए । उन्हें तो सुस्ताने के लिए कोई स्थान ... हाँ ! उनके मन में बात यहीं से तो चली थी कि अब यह मार्ग इतना जन-शून्य नहीं है । मार्ग के दोनों ओर बहुत गांव बस गए हैं । मार्ग पर आवागमन भी पर्याप्त है । लगता था कि रथों, घोड़ों और साथों की यात्राएं इस मार्ग से होती ही रहती हैं ...

अब जो भी गांव आएगा, या गांव न सही, कोई मंदिर, कुआं या बावड़ी ही सही । ... जंत और छाया की सुविधा देखकर वे रुक जाएंगे । थोड़ा-सा कुछ भोजन कर लेंगे और कुछ सुस्ता लेंगे । तनिक धूप ढल जाए तो फिर चल पड़ेंगे ।

उन्हें अधिक दूर नहीं चलना पड़ा । थोड़ी दूरी पर ही उन्हें एक शिव मंदिर दिखाई पड़ा । मंदिर है तो जल भी होगा ही । सुदामा ने मार्ग छोड़-कर मंदिर की पगडंडी पकड़ ली ।

मंदिर जन-शून्य था, पर उजड़ा हुआ नहीं था। रख-रखाव से लगता था कि वहाँ लोग आते रहते हैं, पूजा भी होती है। तो कोई पुजारी भी होगा ही।”

सुदामा ने दो बार मंदिर की परिक्रमा कर डाली, पर उन्हें कोई दिखाई नहीं पड़ा। यके होने पर भी पहले उन्होंने मंदिर में स्थापित देव-मूर्तियों के दर्शन किए। यद्यपि भक्ति-मार्ग से उनका कोई विशेष अनुराग नहीं था, पर फिर भी देव-स्थानों के प्रति पूज्य-भाव उनके मन में था। उनकी अवज्ञा करने जैसा अहंकार उनमें नहीं था। ऐसे स्थानों पर निवेदित अपनी भक्ति को वे शिष्टाचारजन्य भक्ति कहा करते थे। भक्ति-योग अथवा भक्ति-मार्ग से संबद्ध विभिन्न संप्रदायों में ऐसी भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था; किन्तु सम्य और शिष्ट समाज में तो इस भक्ति का स्थान होना ही चाहिए—ऐसी सुदामा की मान्यता थी “जब सामान्य से सामान्य मनुष्य से मिलने पर, और कम से कम परिचय होने पर भी आमना-सामना होते ही शिष्टाचारवश कोई-न-कोई अभिवादन होता है, तो ये तो फिर देव-मूर्तियाँ हैं। असंख्य लोगों की श्रद्धा और भक्ति उनसे जुड़ी हुई है”

पानी की खोज में सुदामा मन्दिर की सीढ़ियों से नीचे उतरे तो उन्हें सामने की पगडंडी से एक व्यक्ति आता दिखाई दिया। शायद वह मन्दिर का पुजारी था। सुदामा रुक गए।

“जय भगवान सोमनाथ की।” पुजारी ने अभिवादन कर, गहरी दृष्टि से सुदामा को देखा।

“जय सोमनाथ।” सुदामा ने उत्तर दिया।

“पूजा करवानी है?” पुजारी की वाणी और मुद्रा से स्पष्ट था कि उसे स्वीकारात्मक उत्तर की अपेक्षा नहीं है। फिर भी शायद वह सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ना चाहता था।

“नहीं।” सुदामा ने विनम्र स्वर में कहा, “यात्री हूँ। कहीं बंठ, भोजन कर, थोड़ा सुस्ताना चाहता हूँ।”

पुजारी की उनमें कोई रुचि नहीं रह गई थी। सुदामा मन-ही-मन आंक रहे थे—“पूजा नहीं होगी, तो कोई चढ़ावा नहीं चढ़ेगा, चढ़ावा नहीं चढ़ेगा तो पुजारी को कोई लाभ नहीं होगा”

“जल कहां मिलेगा ?” सुदामा ने पूछा ।

पुजारी मंदिर की सीढियां चढ़ रहा था । मुड़कर उसने एक ओर अंगुली से इंगित कर दिया; और फिर कुछ सोचकर जोड़ा, “जल को दूषित मत करना और वही किसी वृक्ष के नीचे बैठकर खा लेना । मंदिर में जूठन मत गिराना ।”

सुदामा के जी में आया कि कहें कि वे भी सुशिक्षित हैं, ब्राह्मण हैं और सामाजिक उपयोगिता की वस्तुओं का महत्त्व जानते हैं । पर, पुजारी उनकी घात सुनने के लिए रुका नहीं था और पीछे से चिल्लाकर कुछ कहना उन्हें अच्छा नहीं लगता था ।... वैसे भी मार्ग के साथ लगते इस मंदिर के पुजारी पर अपना महत्त्व प्रकट करना बहुत आवश्यक था क्या ? क्या चाहते थे वे पुजारी से ? अपने अहंकार की सुष्टि ? क्यों वे एक सामान्य जन के समान सामान्य आदेशों को सुनकर स्वस्थ मन से स्वीकार नहीं कर सकते ?... इतना अहंकार तो ठीक नहीं । यदि वे इसी दिशा में सोचते रहे तो किसी दिन वे एक तालपत्र पर अपना परिचय लिखकर उसे अपने गले में टांग लेंगे ।... प्रदर्शन का विरोध भी करते हैं और प्रदर्शन की इच्छा भी होती है ।...

फिर सोचा, पुजारी द्वारा ऐसा आदेश दिए जाने का भी तो आखिर कोई कारण होगा ।... जल, सार्वजनिक उपयोग की वस्तु है । केवल ‘उपयोग’ कहना शायद ठीक नहीं है । वह तो मानव-जीवन की आवश्यकता है । मार्ग चलते हुए, दो-चार कौस तक जल न मिले तो उसका महत्व प्रकट होने लगता है—वह तो जीवन का आधार है, सबके लिए । संभव है कि ऐसे यात्री भी यहा आते हों, जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के पदचातु, यह भूल जाते हो कि उनके बाद आने वालों को भी उसकी आवश्यकता है ।... मानव स्वभाव सचमुच बड़ा स्वार्थी है । अपने लिए तो उसे सब कुछ चाहिए और अच्छी दशा में चाहिए, पर दूसरों का तनिक भी विचार उसे नहीं आता । पशु भी अपनी आवश्यकता भर ही वस्तुएं प्रकृति में लेता है, शेष को अन्य जीवों के प्रयोग के लिए सुरक्षित रख छोड़ता है । उसका स्वार्थ इतने तक ही है कि उसे भी मिले; और मनुष्य का स्वार्थ यह है कि उसे तो मिले, अन्यो को न मिले ।... पता नहीं, मनुष्य कब यह समझ

पाँगा कि प्रकृति ने जो कुछ उसे दिया है, वह मान उसीके लिए नहीं है... उसके समकालीनों और उसके बाद आनेवाली असंख्य पीढ़ियों की सामूहिक संपत्ति है वह। उसके तनिक भी अनावश्यक विनाश अथवा उसको दूषित करने का कोई अधिकार नहीं है उसे...

पूव तनिक दली तो मुदामा फिर चल पड़े। साठी उनके हाथ में थी। लोटा और टोरी भी गटरी के साथ बांधकर बांधों से लटका लिया था।...

यात्रा का अकेलापन उन्हें कुछ अरारने लगा था।... उन्हें किसी सार्थ के साथ चलना चाहिए था, या फिर किसी संप में चले होते... इस प्रकार एकाकी चलना कुछ दूर तक तो ठीक है, पर इतनी लम्बी यात्रा... ऐसे में मुदामा को लगता है कि वे इतने अन्तर्मुखी नहीं हैं, जितना उन्हें समझा जाता है। उन्हें भी संगी-साथियों की आवश्यकता होती है। यह दूगरी बात है कि वे राह चलते लोगों से मित्रता नहीं कर पाते। नये व्यक्ति से बातचीत, तब तक टांगते चलते हैं, जब तक यह बहुत आवश्यक क्या... अनिवार्य ही न हो जाए।... बहुधा लोगों से यात्रालाप करने में वे इसलिए भी घबराते हैं कि वे हर किसी से तत्काल सहमत नहीं हो पाते। ऐसे में मतभेद तीता भी हो जाता है। तब मित्रता होने के स्थान पर वैमनस्य अधिक हो जाता है। क्या साभ?...

वेत भी उनके पास है ही क्या, जिसकी सुरक्षा के लिए वे किसी सार्थ के साथ चलते। दारीर पर पूरे कपटे भी तो नहीं हैं। जो हैं भी वे ऐसे नहीं हैं, जिनको देखकर कोई झल जाए। उन्हें देखकर वह तो किसीके मन में उठ सकता है कि उन्हें कुछ दे दिया जाए। उनसे ले लेने को क्या है? लोटा, डोरी, घोती, मार्ग में खाने के लिए कुछ चना-चवना और एक पोतली में सुसीला द्वारा दिया गया चिऊड़ा है कृष्ण के लिए... चिऊड़ा को लेकर उनके मन में बहुत ऊहापोह थी। यह भी कोई वस्तु हुई कृष्ण की भेंट देने के लिए। भेंट में ऐसी वस्तु दी जाती है, जिसे पाकर लेनेवाले को प्रसन्नता होती है। दो-चार मुट्ठी चिऊड़ा पाकर कृष्ण को क्या प्रसन्नता होगी? ...पर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो कृष्ण के पास न हो और मुदामा उसे दे सकते हों? ऐसा कोई भौतिक पदार्थ तो है नहीं... भेंट को लेकर मुदामा

और सुशीला में काफी देर तक विचार-विनिमय हुआ था। और अन्त में वे लोग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भेंट कोई 'कर' तो है नहीं, जो उसकी निश्चित राशि हो। भेंट तो देनेवाले की अपनी क्षमता और भावना पर निर्भर है। देनेवाले की स्थिति और क्षमता को देखकर तो भेंट नहीं दी जा सकती। और सुदामा की क्षमता तो चिऊड़े की पोटली तक ही है। वह भी पता नहीं, घर में वे या सुशीला पड़ोस में से कहीं से मांग कर लाई थी...

भेंट से हटकर सुदामा का मन फिर सारथ पर आ टिका... गाव में से तो किसी सारथ का संग मिलना असंभव था। उनका गांव मुख्य मार्ग से कुछ हटकर है। उन्हें नगरी में आकर टिकना पड़ता और किसी ऐसे सारथ के आने की प्रतीक्षा करनी पड़ती, जो द्वारका जा रहा हो। जाने कितने दिनों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती... उस अनिश्चित अवधि के लिए सुदामा, नगरी में कहीं टिकते? और फिर कोई सारथ आता तो जाने सारथवाह उन्हें साथ ले चलने का इच्छुक भी होता या नहीं। सारथवाह अपने साथ उन्हें ले चलना चाहता है, जो शरीर से समर्थ, शस्त्र से युक्त और युद्ध में सारथक होते हैं। ऐसे लोगों से सारथ की रक्षा होती है। सुदामा इनमें से किसी योग्य नहीं थे। न वे युद्ध कर सकते थे, न भार ढो सकते थे... या फिर सारथवाह उनको साथ ले चलता है, जिनके पास धन होता है। सारथवाह उनकी रक्षा करता है और वे उसे धन देते हैं। सुदामा उसे क्या देते...

फिर, सारथ अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने मनमाने मार्ग से चलता और जहाँ जितनी देर रुकना चाहता, रुकता। सुदामा कहीं अपना समय नष्ट करते रहते।... ऐसे, एकाकी होने का कष्ट तो है, पर समय की पर्याप्त बचत है।

संध्या ढलने को आई थी। अंधकार हो जाने से पहले ही सुदामा को कहीं ठहरने का निर्णय कर लेना था... कोई मंदिर, किसी गाव की चौपाल कोई धर्मशाला...

इधर के लोग कुछ अधिक समृद्ध हो गए लगते थे, तभी तो मार्ग में कई धर्मशालाएं दिखाई पड़ी थी। पहले इस मार्ग पर न नगरिया थी, न धर्मशालाएं... आनर्त नरेश कुकुद्मीन के समय यह द्वारका, सागरतट पर एक साधारण-सा नगर थी... कुकुद्मीन के पास न तो

जलपोत थे और न जलपत्तन का कोई अच्छा प्रयोग होता था। इधर के लोगों में व्यापार भी अधिक नहीं था। तभी तो न यहाँ की जनसंख्या बढ़ी, न व्यापार बढ़ा और न ही समृद्धि आई।... किंतु पण्यजन असुरो की जाति सामुद्रिक शक्ति थी। उन्होंने आक्रमण कर कुकुद्मीन से कुशस्थली छीन ली थी। आसपास के क्षेत्रों पर भी उनका आतंक छा गया था और लोग इधर-उधर भाग गए थे। गिरिनगर भी आनतं नरेश के हाथ से निकल गया था। बलराम की सहायता से कुकुद्मीन ने कुशस्थली को पण्यजनो से वापस छीना था और गिरिनार भी लौटाया था।... तभी मयुरा पर जरासंध और कालयवन एक साथ चढ़ आए थे। यादवों को बचाने के लिए, कृष्ण को एक ही मार्ग दिखाई पड़ा था कि वे मयुरा के यादवों को किसी ऐसे स्थान पर ले जाएं जो जरासंध के प्रभाव क्षेत्र से भी बाहर हो और जहाँ भौगोलिक दृष्टि से भी यादव, जरासंध से सुरक्षित हो। उस दृष्टि से पांचाल, अवन्ती, हस्तिनापुर, खेदि, विदर्भ... कहीं भी यादव सुरक्षित नहीं थे।... आनतं नरेश तो अपने सहायक बलराम को अपना उत्तराधिकारी बनाना ही चाह रहे थे। रेवती से बलराग का विवाह हुआ और कुकुद्मीन ने कुशस्थली मयुरा के यादवों को सौंप दी। कृष्ण ने अपने साथियों की सहायता से कुशस्थली में द्वारका जैसा नगर बनाया।... बाबा कह रहे थे, वहाँ बहुत निर्माण हुआ है, बहुत सुंदर नगर बसा है... आसपास खेती होने लगी, पशु-पालन हुआ, व्यापार हुआ, उद्योग बढ़ा... यादवों ने इस सारे भू-भाग का रंग-रूप ही बदल दिया...

कोई पुरवा आ गया था शायद। कई घर दिखाई दे रहे थे और मार्ग के दोनों ओर कुछ दुकानें भी थी।

“क्यों भाई! यहाँ कोई धर्मशाला भी है, जहाँ रात-भर के लिए टिका जा सके?” सुदामा ने एक व्यक्ति को रोका।

“रात का क्या है।” वह थोला, “किसी भी पेड़ के नीचे टिक जाओ।”

“क्यों? धर्मशाला या मंदिर नहीं है क्या?”

“है क्यों नहीं।” उस व्यक्ति ने बात अधिक नहीं बढ़ाई, “चार दुकानें और आगे बढ़ जाओ। धर्मशाला में पहुंच जाओगे।”



ठीक चारों ओर हुंकारों के बावें धर्मशाला थी। तीन सीढ़ियों के बांद पक्का चबूतरा था। तब अनेक द्वार थे; पर उनके कपाट बंद थे। सुदामा ने एक द्वार जा खटखटाया। वह द्वार तो नहीं खुला, पर उसके साथ वाला कपाट खुल गया और एक व्यक्ति ने अघसुले कपाट से झाँककर बाहर देखा। सुदामा की उसने ऊपर से नीचे तक घूरा। उसने बाहर निकलने या सीधे खड़े होने का भी कष्ट नहीं किया। मोहँ सिकोड़ कर पूछा, "क्या है?"

"धर्मशाला के प्रबंधक से मिलना चाहता हूँ।" सुदामा ने मधुर स्वर में कहा।

"क्यों? क्या काम है?" उस व्यक्ति का स्वर और भी शुष्क हो गया।

"यात्री हूँ। रात के लिए टिकना चाहता हूँ। यदि कोई कोठरी..."

"कोठरी की क्या आवश्यकता है। कोई सोने के मड़े तो हो नहीं कि कोई उठा ले जाएगा।" उस व्यक्ति ने सुदामा की बात पूरी नहीं होने दी, "यहीं किसी कोने में पड़ जाओ।"

सुदामा ने उसकी आँखों द्वारा सुझाई गई दिशा में देखा: उसका संकेत पक्के चबूतरे की ओर था।

सुदामा खड़े देखते रहे, उस व्यक्ति ने प्रतीक्षा नहीं की। कपाट बंद हो गए। भीतर से कुंडी लगाने की ध्वनि भी हुई।

पहले व्यक्ति का ही सुझाव ठीक था... सुदामा सोच रहे थे... यदि ऐसे पड़े ही रहना है तो किसी भी वृक्ष के नीचे भूमि स्वच्छ कर लेटा जा सकता है। एक तो खूब स्थान होगा, और किसीकी कृपा की बात भी नहीं जोहनी होगी। ऐसे-ऐसे नकचड़े और कटखने लोगों के मुँह भी नहीं लगना होगा।

सुदामा मार्ग पर आ गए।

थोड़ी दूर चलने पर पुरवा पीछे छूट गया। वे आगे बढ़ते गए। मार्ग करा होता गया और वृक्ष सघन होने लगे। वही उन्हें छोटी-सी एक तलैया भी दिखाई दी।

सुदामा भागे छोड़कर, तलैया की ओर बढ़ गए।

सुदामा जैसे-जैसे द्वारका के निकट होते जा रहे थे, उनके मन का ऊहापोह बढ़ता जा रहा था : वे जा तो रहे हैं, पर कोई उन्हें कृष्ण के पास पहुंचने भी देगा। मंदिर का पुजारी उन्हें मंदिर में घुसने योग्य नहीं मानता। परम-शाला का प्रबंधक उनके टिकने के लिए एक कोठरी की आवश्यकता नहीं समझता। द्वारका में कोई उन्हें कृष्ण से मिलने योग्य भी मानेगा या नहीं ? ... और यदि वे किसी प्रकार कृष्ण के सामने पहुंच ही गए तो कृष्ण उन्हें पहचान लेगा क्या ? ... उसका महस्व उन्हें पहचानने में आड़े तो नहीं आएगा ? ... वैसे भी, कृष्ण पहचानना भी चाहे तो संभव है मही पहचान पाए। आखिर कितने दिनों का संग था उनका कृष्ण के साथ ? और फिर जाने उनके जैसे कितने लोग कृष्ण के संपर्क में प्रतिदिन आते हैं। आश्रम से चलकर कृष्ण प्रभास गया था और प्रभास से यमलोक, गुरु के पुत्र को लौटा जाने। फिर वह मयुरा की राजनीति में फंम गया था। जरासंध से युद्ध किए। कालयवन का नाश किया। द्वारका का निर्माण किया। यादवों के झगड़े निबटाए। रुक्मिणी का हरण किया। रुक्मिणी के पदचात् दो और विवाह भी हुए हैं कृष्ण के। हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ की राजनीति में भी यह व्यस्त रहा है। संतानें भी हुई हैं उसके घर। शंवासुर, भीमासुर, शिशुपाल और कितने लोगों का यष किया है उसने। अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त राजाओं, सेनाओं, ऋषियों, दार्शनिकों, गुरुकुलों से घिरे इस कृष्ण के अति व्यस्त-जीवन में एक सुदामा ही उसे माद रह जाएगा क्या ? कैसा जीवन है कृष्ण का ... भीभी है या बवंडर। प्रतिदिन कोई नई घटना, नई समस्या, नया संपर्क। कैसे करता है इतने काम यह व्यक्ति और फिर न ऊबता है, न थकता है ! ... सुदामा को तो दो बार निकट की नगरी में जाना पड़े तो वे ध्याकुल ही उठते हैं ...

- और यदि पहचान ही लिया कृष्ण ने, तो वह पूछेगा, "कहो। कैसे आए विप्र ?" — क्या संवोधन करेगा वह ... 'सुदामा ?' ... 'मित्र ?' — 'भाई ?' — या मात्र 'विप्र ?' सब कुछ इसी पर तो निर्भर करता है कि वह क्या कहता है। उस एक संवोधन से ही कृष्ण के सारे मनोभाव प्रकट हो जाएंगे। ... कृष्ण तो जो कहेगा, सो कहेगा; सुदामा क्या कहेंगे उसे ? किसीको एक ग्राम का भी अधिकार मिल जाए, तो वह प्रत्येक आगंतुक

से पूछता है, “कहो क्या काम है ?” जो भी उसके पास जाता है, अपना स्वार्थ लेकर जाता है। अधिकारी को सामने पाते ही प्रत्येक व्यक्ति याचक बन जाता है, तो अधिकारी ही क्या करे।... फिर, कृष्ण तो इस समय सम्राटों का नियामक बना बैठा है। उससे कितने लोग, केवल मिलने जाते होंगे ? और जो मिलते होंगे, वे दूसरे-चौथे दिन मिलते होंगे, सुदामा के समान तो नहीं कि वर्षों बीत गए और कभी अपना चेहरा ही नहीं दिखाया।... यह भी नहीं कह सकते कि ‘द्वारका आया था; सोचा, तुमसे भी मिल चलूं।’ वह पूछेगा, ‘क्या करने द्वारका आए थे ?’ क्या उत्तर देंगे सुदामा ? वे कौन नगर श्रेष्ठि है कि कह दें कि उनका सार्थ इधर आया था... ”

बस एक ही उत्तर है उनके पास, ‘तुमसे मिलने आया हूं।’ पर कृष्ण पूछे या न पूछे, उसके मन में प्रश्न तो उठेंगे ही। इतने वर्षों में कृष्ण ने इतने जोखिम भँले। कितनी बार उसके प्राणों पर संकट आया। कितने ही युद्ध किए उसने। उसके विवाह हुए, संतानें हुईं... तब तो सुदामा कभी मिलने नहीं आए। आज क्या हो गया कि तीन दिन और तीन रातों की यात्रा कर, सुदामा बिना किसी काम के, कृष्ण से मिलने आए हैं ?... क्या कहेंगे सुदामा ? ओह ! किस संकट में फँसा दिया सुशीला ने।... इसमें सुशीला का ही क्या दोष है, वे स्वयं भी तो आना चाहते थे। क्या सचमुच उनके मन में कृष्ण से मिलने की बात कभी नहीं उठी ? क्यों नहीं उठी ? जब कभी कृष्ण के विषय में कुछ सुना, उसके मन में मिलने की उमंग उठी—दुःख में, सुख में। दार्शनिक समस्याओं को लेकर बार-बार उसके मन में कृष्ण से मिलने की प्रवृत्ति उठी... कब-कब कृष्ण को याद नहीं किया उन्होंने ?... हा ! इस बार सुशीला निमित्त बन गईं... तो सुदामा सच-सच कह दें कि वे आर्थिक तंगी में हैं और कृष्ण से कुछ सहायता चाहते हैं... कहने में हानि ही क्या है। आखिर कृष्ण इतने लोगों की समस्याएं सुलझाता है, इतने लोगों की सहायता करता है, इतने लोगों का पालन करता है—क्या सुदामा ही इतने पराए है कि उनके लिए वह कुछ नहीं करेगा ? कितनी ममता है कृष्ण में—वह सबका है, सबके लिए है; क्या एक सुदामा का ही नहीं है ?

क्यों नहीं कह सकते सुदामा अपने मन की ? यह उनका स्वाभिमान है या अहंकार । ...सुदामा चेतें नहीं अहंकार की क्या बात है । वे अपना कष्ट अपने मित्र से तो कह ही सकते हैं — यादवश्रेष्ठ से न भी कह पाएँ तो क्या । ...

सारा कुछ इसीपर तो निर्भर है कि कृष्ण उनसे कौसा व्यवहार करता है । मान लो कृष्ण उनसे स्नेह से मिला तो क्या कहेंगे वे कृष्ण से ? क्या चाहिए उन्हें ? ...ढेर-सा सोना ? महल ? नौकर-चाकर ? ...पर क्या करना है सुदामा को इन सब का ? उन्हें इन वस्तुओं की तो तुष्णा नहीं है । यदि यह निश्चित हो जाता कि उन्हें और उनके परिवार को आवश्यकतानुसार भोजन मिलेगा, वस्त्र मिलेंगे, आवास मिलेगा, बच्चों की रुचि और आवश्यकतानुसार उन्हें शिक्षा मिलेगी, रोग की स्थिति में उपचार हो सकेगा — तो फिर क्या आवश्यकता है धन के संचय की ? उनकी महत्वाकांक्षा तो इस क्षेत्र में नहीं है । ...पर जीवन की आवश्यकताओं की उपलब्धि के अनिश्चय ने कितना असुरक्षा का भाव भर दिया है उनके मन में । ऊपर चाहे उन्होंने स्वयं को कितना ही क्यों न साध रखा हो, पर विवेक के अनुशासन के तनिक-सा शिथिल होते ही उनकी भूल-तनकर मग्न हो जाती है । यह उनके भीतर कहीं गहरे दबी आधिक असुरक्षा की भावना ही तो है । शायद इसी असुरक्षा की प्रतिक्रिया में ध्वंसि इतना धन-सोनुप हो जाता है और धन-संचय की ही जीवन का लक्ष्य बना लेता है । जाने, सुदामा जैसे कितने लोग हैं इस संसार में, जिनकी बुद्धि नहीं है धन-संचय की ; किन्तु इसी असुरक्षा के भाव ने उन्हें धन-सोनुप बना रखा है । ...क्या मनुष्य ऐसे समाज का निर्माण नहीं कर सकता जहाँ ध्वंसि अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं से निश्चित होकर अन्न-दान करना रहे । उनके मन में संचय की इच्छा ही न जागे, वह दुस्रों को कठिन कर, अपना नविद्य-दुःख दित करने का प्रयत्न न करे ? — यदि ऐसा समाज बन जाए तो सुदामा किसी कृष्ण की कृपा का अर्हता क्यों हों ? वह अन्न-दान और निश्चित रहे ।

...पर ऐसे समाज के निर्माण के विषय में सुदामा ने कुछ सोचा नहीं सोचा । वे तो बहाने-बहाने करते रहे । पर कृष्ण ने उन्हें

होगा। उसने तो नया समाज बनाया है। समाज को नये षिद्धान्त और नया रूप दिया है—सुदामा कृष्ण से पूछेंगे।

## आठ

संध्या होते-होते सुदामा द्वारका में प्रवेश कर गए थे।

द्वारका बहुत सुन्दर नगर था। बहुत कुछ मयुरा का ही परिवर्द्धित रूप। किन्तु मयुरा से बहुत सुना और विस्तृत। मयुरा को भी कदाचित् आरंभ में एक गूले नगर के रूप में ही बसाया गया होगा; किन्तु जनसंख्या बढ़ने के कारण वह जन-संकुल हो गई थी। सुदामा ने गुरु छांदीपति के साथ ही मयुरा की यात्रा की थी। अधिकांश समय तक तो वे लोग नगर के बाहर, यमुना-तट पर ही रहे थे; पर मयुरा का कुछ थोड़ा भाग उन्होंने देखा था। 'समृद्ध तो मयुरा भी थी, पर द्वारका उससे कहीं अधिक समृद्ध दिखाई पड़ रही थी। बाबा ने ठीक ही कहा था : बड़े-बड़े प्रासाद, महल, अट्टालिकाएँ, खुले चौराहे और बड़े-बड़े उद्यान। सुदामा ने बड़े नगरों में से अवन्ती और प्रभास को भी देखा था; किन्तु यहाँ यह सब कुछ नहीं था।

मार्गों पर अनेक प्रकार के वाहन आ-जा रहे थे। प्रसन्न-मुख नागरिक स्वच्छ और मूल्यवान वस्त्र पहने हुए थे—सहसा सुदामा का ध्यान अपने वस्त्रों की ओर चला गया। उनके वस्त्र—धोती और उत्तरीय—मूल्यवान तो नहीं थे, अब स्वच्छ भी नहीं रह गए थे। तीन दिनों की अपनी इस यात्रा में उन्होंने स्नान करके भी वस्त्र नहीं बदले थे। वैसे तो वस्त्रों का एक और जोड़ा उनके पास था; किन्तु यात्रा में तो वे चाहे कितनी बार वस्त्र बदलते—उन्हें मँला होना ही था। मार्ग में यदि वे एक बार भी वस्त्र बदल लेते तो उनके दोनो जोड़े मँले हो जाते—तब द्वारका में क्या पहनते वे? क्या जाते ही कृष्ण से वस्त्र मांगते? कहते कि मेरे पास

पहनने को कपड़ा भी नहीं है...।

उन्होंने अपने वस्त्रों पर एक दृष्टि डाली "मर इन वस्त्रों में कृष्ण को मिलने जाना" और यह कहना कि वे कृष्ण के मित्र हैं...इससे तो अच्छा है कि ते थोड़ी देर कहीं और टिककर स्नान आदि कर वस्त्र बदल लें...पर क्या कृष्ण नहीं जानते कि वे तीन दिनों की पैदल यात्रा करके आए है? मार्ग में मूस-धक्कड़ है, झांघी और कीचड़ है...वे पिछली तीन रातों से धरती पर सोते हुए आए है...यात्रा से आया व्यक्ति, यात्रा से आया जैसा ही लगेगा, प्रसाधन-भवन से बाहर निकला तो नहीं लगेगा...

'अपना नहीं तो कृष्ण का तो विचार कर'...सुदामा के मन ने कहा, 'तू तो फक्कड़ ब्राह्मण है, पर वह तो यादव-श्रेष्ठ है। उसके नीकर-जाकर, भ्रूय-परिहारक, सैनिक-द्वारपाल तथा सोचने'...

पर तत्काल ही सुदामा का दार्शनिक मन उस स्वर पर छा गया... 'इस बाहरी त्राम-भ्राम में क्या रखा है। वस्त्र कैसे भी हो, सुदामा तो सुदामा ही रहेगा। मैत्री, वस्त्रों से नहीं होती। यदि परिधान देखकर ही कृष्ण मैत्री को स्वीकार करता है, तो सुदामा कभी भी कृष्ण के मित्र नहीं हो सकते...मैत्री तो भावना है, भौतिक स्थिति या बाहरी प्रदर्शन, बीच में कहां से आ गया'...

'पर सामाजिक शिष्टाचार'...एक और स्वर उठा।

'सामाजिक शिष्टाचार, औपचारिकता में होता है।' सुदामा ने उस स्वर को डाट दिया, "और कृष्ण तो एक नये समाज और नई भौतिक नैतिकता की स्थापना कर रहा है, उसके लिए शिष्टाचार का क्या महत्व...थोड़ी देर में अभी रात हो जाएगी। द्वारका में पहुंचकर कृष्ण से मिलने के लिए सुदामा कल तक की प्रतीक्षा नहीं कर सकते।..."

कृष्ण का महल खोजने में सुदामा को तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। जिससे भी पूछा, उसने ठीक मार्ग बता दिया। दो-तीन व्यक्तियों से ही पूछ कर वे वहां पहुंच गए थे।

मुख्य द्वार पर दंडधर नहीं, सशस्त्र सैनिक खड़े थे। दो, मार्ग की

वायीं ओर और दो दायीं ओर । उनके पीछे एक छोटे-से भंज पर उनका कोई अधिकारी बैठा लगता था ।

किसी राजप्रासाद में अकेले जाने का सुदामा का यह पहला ही प्रयत्न था...पता नहीं ये सैनिक, उन्हें भीतर जाने भी देंगे या नहीं...हां ! यदि सुदामा संकुचित होते रहे, आशंकित और धबराए हुए-से लगते रहे, तो निश्चय ही ये लोग उन्हें भीतर नहीं जाने देंगे । सुदामा को कुछ व्यावहारिक धनना होगा । पूरे आत्मविश्वास के साथ उन्हें कृष्ण के मित्र के रूप में अपना परिचय देना होगा—

सुदामा पीछे बैठे अधिकारी के पास पहुंचे, “बया कृष्ण का प्रासाद यही है ?”

अधिकारी ने बैठे-बैठे ही सुदामा का ऊपर से नीचे तक का निरीक्षण किया और कुछ रोप के साथ बोला, “वेश से तो ब्राह्मण लगते हो । कुछ शिक्षा भी पाई होगी । कुछ शिष्टाचार भी सीखा होगा...”।

सुदामा कुछ नहीं बोले...बया कहना चाहता है वह अधिकारी ?

“भगवान न कहो, राजाधिराज न कहो, श्रीकृष्ण ही कहो, कृष्ण वासुदेव कहो ।” वह प्रकट विरोध के साथ बोला, “यह बया हुआ, कृष्ण...”।

सुदामा समझ गए कि मंत्री का अधिकार जताने में वे सीमा से कुछ आगे निकल गए थे, उन्हें भयांदा का ध्यान भी नहीं रहा ।

“भाई !” सुदामा का स्वर एकदम ही नम्र हो गया, “मैं गुरु सांदीपनि का शिष्य सुदामा हूं । श्रीकृष्ण का मित्र, गुरु भाई । इसलिए आत्मीयता में ऐसा कह गया ।”

“ठीक है । पर आत्मीय लोग भी अपरिचितों के सामने सम्माननीय के सम्मान की रक्षा करते हैं ।” अधिकारी का रोप अभी दूर नहीं हुआ था, “किसी और का प्रासाद होता तो तुम्हारा रूप और परिधान देखकर ही, तुम्हें खदेड़ दिया जाता । पर हमारे कृष्ण वासुदेव का बया है । जाने कैसे-कैसे मित्र हैं ।...गोपाल ।” उसने एक सैनिक को पुकारा, पर फिर कुछ सांचकर बोला, “अच्छा ! तुम रहने दो । मैं स्वयं ही ले जाता हूं । ब्राह्मण देवता का कहना है कि ये गुरु सांदीपनि के शिष्य हैं, हमारे गोविंद

के मित्र । आजो भाई...।" वह उठकर आगे-आगे चल पड़ा ।

सुदामा उसके पीछे-पीछे चलते हुए सोच रहे थे, "ठीक कह रहा है । किसी और का द्वार होता तो खदेड़ा क्या जाता, भारकर ही भगा दिया जाता ।" कितना बुरा लगा उसे अपनी स्वामी का मात्र कृष्ण कहा जाना...पर स्वयं भी तो वह 'हमारे गोविन्द' और 'कृष्ण वासुदेव' कह रहा है । किमी अन्य नायक का प्रतिहारी, क्या इस प्रकार अपने स्वामी की चर्चा कर सकता है...कृष्ण राजा नहीं है, पर राजाओं से बढ़कर है । फिर भी उसका संबंध मात्र अधिकार का नहीं है...अपने प्रतिहारियों से भी उसका संबंध रागात्मक है । यह शायद वृन्दावन के उन्मुक्त वातावरण में पलने का परिणाम है—जहाँ मनुष्य मात्र को समान समझा जाता था । राजन्य संस्कृति में पला होता कृष्ण तो वह भी पांचाल द्रुपद के समान अपनी मैत्री, केवल राजाओं से ही रखता...यह प्रतिहारी भी जानता है कि कृष्ण की मैत्री कैसे भी व्यक्ति से हो सकती है, तभी तो अपना रोप प्रकट करने के बाद भी कृष्ण के मित्र को सम्मान देने के लिए साथ आया है...

वह एक भवन के सामने आकर रुक गया । दीवारियों से उसने कुछ कहा और वे लोग पीछे हट गए । सुदामा ने निकट जाकर देखा : वे लोग तिःशस्त्र थे । उनके पास दंड भी नहीं थे ।

सैनिक अधिकारी ने मुजा फौनाकर उन्हें प्रवेश का निमंत्रण दिया, "क्या नाम बताया आपने ? सुदामा ?"

सुदामा ने स्वीकृति में सिर हिलाया ।

"आप बैठिए ! सूचना उन तक पहुंचाई जा रही है और उनका संदेश आप तक पहुंचा दिया जाएगा ।"

सुदामा ने कक्ष में प्रवेश किया । अधिकारी और दीवारिक बाहर ही रह गए ।

कक्ष काफी बड़ा था और स्थान-स्थान पर अनेक सुन्दर चौकियाँ और मंच रखे हुए थे । एक बार सुदामा ने अपने वस्त्रों की देखा और फिर एक-एक कर, सारे मंचों को निहारा । अंत में एक कोने में, रखी हुई एक छोटी चौकी पर इस प्रकार बैठ गए कि उनके धूल से भरे पैर फर्श पर बिछे बहु-



यही क्यों पूछ रहे हो। जीवन की एकरात्र उलम्बि विवाह ही तो नहीं है।”

“इतने संघे अंतराल के पश्चात् मिल रहे हैं हम,” कृष्ण मुस्कराए, “कि समझ में नहीं आ रहा कि बात कहां से आरंभ करें। धीरे-धीरे, क्षेप उपलम्बियों के विषय में भी पूछूंगा।” यह तो मुझे मालूम है कि तुम ज्ञान-योग पर कोई बृहद् ग्रंथ लिख रहे हो।”

“तुम्हें कैसे मालूम हुआ?”

“योग-शक्ति से।”

“योग से?” सुदामा चकित थे।

कृष्ण तिलल्लिलाकर हंस पड़े, “मुझसे गुरुकुल के एक तदण आचार्य ने चर्चा की थी।”

सुदामा आदवस्त हुए। तो उनकी चर्चा यहां तक पहुंची है।

“मेरे विवाहों के विषय में तो सूचना है न?” कृष्ण मुस्करा रहे थे।

“खूब सूचना है।” सुदामा भी मुस्कराए, “रितने हो गए अब तक?”

कृष्ण एक द्वार के सामने बसे, “भीतर आओ। बताता हूं।”

भीतर घुसते ही सुदामा जैसे एक नये लोक में आ गए। पिछले कक्ष के वैभव को देखकर, संकुचित हो, वे एक किनारे की चौकी पर बैठ गए थे; पर इस कक्ष का वैभव—यह कक्ष, उससे कहीं विशाल था। दो बड़े-बड़े पलंग बिछे हुए थे। बैठने की स्वर्णिम चौकियां, मंच और सिंहासन थे। और असाधारण रूप से बहुमूल्य आभूषणों और परिधान में सुसज्जित, अद्भुत सुंदरी राजन्य वर्ग की एक महिला...

“रुक्मिणी!” कृष्ण बोले, “ये मेरे मित्र हैं, सुदामा।”

तो यह रुक्मिणी है...सुदामा ने सोचा...तो इससे विवाह किया है कृष्ण ने। है भी वह कृष्ण की ही पत्नी होने के योग्य।...सुदामा ने अनुभव किया कि जिस प्रकार उनके लिए रुक्मिणी के साथ साक्षात्कार अनपेक्षित था, वैसे ही रुक्मिणी भी शायद सुदामा जैसे व्यक्ति को यहां देखने की अपेक्षा नहीं कर रही थी। रुक्मिणी, कृष्ण के समान गोप-गोपिकाओं में नहीं पली थी। उसका पालन-पोषण, राजमहल में राजकुमारी के रूप में

हुआ था। सुदामा जैसे व्यक्ति के साथ अपना या अपने पति का कोई संबंध स्वीकार करना...पर यहां कृष्ण के गुरु सादीपनि भी तो आते होंगे, गर्गाचार्य भी, कुछ अन्य ऋषि-मुनि भी। परकदाचित् उनकी स्थिति के साथ गुरु, पुरोहित और ऋषि-मुनियों की गरिमा जुड़ी रहती होगी। वे कृष्ण के अख्यात् निर्धन ब्राह्मण मित्र मात्र नहीं होते होंगे...वे लोग स्वेच्छा से निर्धनता को अंगीकार करने के गौरव से दीप्तिमान होते होंगे, सुदामा के समान अक्षमता से मलिन नहीं...पर रुक्मिणी भी तो कोई विलक्षण राज-कुमारी होंगी, जिसने चेदि के युवराज का तिरस्कार कर गोपाल कृष्ण का धरण किया।

रुक्मिणी ने बड़ी गरिमा से स्वयं को संतुलित किया। उन्होंने मुस्कराकर स्वागत किया, "पधारिए।"

सुदामा को लगा, वे सहज ही रुक्मिणी के साथ वार्तालाप नहीं कर पाएंगे। उन्हें अपना आत्मविश्वास संचित करना होगा।...कहीं बैठ जाएं वे। सुदामा की दृष्टि सारे कक्ष में घूम गई—कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा, उनके बैठने के लिए...

अपनी अभ्यस्त आयासहीन चाल से कृष्ण आगे बढ़े। सुदामा को बांह से पकड़ा और सबसे ऊंचे सिंहासन पर ला बैठाया।

"मैं...।" सुदामा ने कुछ प्रतिरोध करना चाहा।

"बैठो भी।" कृष्ण ने उन्हें कुछ कहने का अवसर नहीं दिया, "सुदामा बहुत दूर से आया है प्रिये!" वे रुक्मिणी से संबोधित हुए, "थका हुआ है। प्यरा गुनगुना पानी। पीछने को स्वच्छ वस्त्र। कोई लेप...।"

सुदामा की आंखें, कक्ष से बाहर जाती हुई रुक्मिणी का पीछा करती रहीं। उनके कक्ष से बाहर निकलते ही, धीरे से बोले, "क्या कर रहे हो कृष्ण? भाभी को भेज दिया। कोई दास-दासी...।"

"भाई! अब तुम्हारे काम भी दास-दासियों से करवाऊं।" कृष्ण बोले, "दास-दासियों से तुम्हारी सेवा करवानी होती तो तुम्हें अतिथि-कक्ष में ठहराता और दो दासियां सेवा-टहल के लिए नियुक्त कर देता। पर, एक तो भाभी तुम पर सदा संदेह करती और फिर वहा हमारी गप्प-भोष्ठी कैसे जमती।" कृष्ण खिलखिला कर हंस पड़े।

ही हूँ।" रुक्मिणी जाने के लिए मुड़ी, "मैं अपनी बहनों के साथ वांटकर, इसे खाऊंगी।"

"अच्छा सुनो!" कृष्ण पीछे से पुकार कर बोले, "सत्यभामा को कहना, आज भोजन बढ़िया बनना चाहिए। सुदामा को पसंद न आया तो उसकी अपकीर्ति दूर-दूर तक फैल जाएगी।"

'सुदामा कब से अच्छे भोजन का पारखी हो गया,' सुदामा उदासीन स्वर में बोले, "कि उसकी पसंद-नापसंद का इतना महत्त्व हो।"

"क्यों? क्या दर्शन-वखानते-वखानते रसना स्वाद की परख भूल जाती है?"

"यहां रसना है किसके पास? अपने पास तो केवल बाक् ही है।"

सहसा कृष्ण का लीलामय रूप तिरोहित हो गया। गंभीर होकर बोले, "हम क्या बात कर रहे थे सुदामा?"

"तुम्हारे विवाह की बात! कितने हो गए अब तक?"

"मेरे विवाह!" कृष्ण की गंभीरता गहरा गई, "व्यक्ति कृष्ण का प्रेम के आधार पर केवल एक ही विवाह हुआ है—रुक्मिणी से। शेष तो राजनीति और सम्बन्धों का निर्वाह है।" सहसा वे सचेत हुए, "पर मित्र! गलत मत समझना। जाम्बवती और सत्यभामा से मेरा कोई मन-मुटाव नहीं है। वे भी मेरी उतनी ही प्रिय रानिया हैं। मैं उनसे भी उतना ही प्रेम करता हूँ।"

"प्रेम क्या बाटा जा सकता है?" सुदामा के स्वर में आपत्ति थी।

"कोई इतना अविभाज्य भी नहीं है!" कृष्ण मुस्कराए, "या मुझे प्रेम की मात्रा बहुत अधिक है।"

सुदामा मीन बंटे उनको देखते रहे।

"मुझे किसी को भी प्यार देने में कठिनाई नहीं हुई। मेरा प्यार मेरी आवश्यकता नहीं है, मेरा स्वार्थ नहीं है। वह मेरी करुणा से उत्पन्न हुआ है और करुणा की कोई सीमा नहीं होती। जिन्हें मेरी आवश्यकता है, मैं उन सबका हूँ। जो मुझे प्यार करते हैं, मैं उन सबसे प्यार कर सकता हूँ। मैं किसी के प्यार का तिरस्कार नहीं करता। वह पाप है।"

"और वे सोलह हजार रानिया?" सुदामा के स्वर में चुहल थी।

“हां ! उनकी चर्चाओं ने मुझे बहुत विलासी प्रमाणित किया है । इसमें कुछ मेरे शत्रुओं का योगदान है और कुछ मेरे भक्तों का ।” कृष्ण मुस्करा रहे थे, “मैंने जब भीमामुर की हत्या की तो उसके अन्तःपुर में सहस्रों स्त्रियों बन्दिनी पाई गईं । उनमें से अनेक का अपहरण स्वयं भीमामुर ने किया था, कुछ को उसने अन्य अपहरणकर्ताओं से खरीदा था । ...जाने वह क्यों उनका साथ कर रहा था...अपने विलास के लिए...या उनके ध्यापार के लिए । वह तो मर गया, फिर कौन बताता ।...” कृष्ण ने हककर सुदामा को देखा, “उनकी मुक्ति के पश्चात् समस्या यह उठ खड़ी हुई कि उनका भविष्य क्या है ? उन अपहृत स्त्रियों को न उनके पिता स्वीकार करने, न पति ।...कहा जाएं वे ? उनका भरण-पोषण कौन करे ? उनकी सामाजिक स्थिति क्या हो ? तब मुझे एक ही मार्ग सूझा कि उस गरल को मैं ही पियू । यदि अन्य कोई पुरुष उन्हें स्वीकार करता भी तो कदाचित् जीवन में अनेक बार यह घटना उनकी यातना का कारण बनती ।...अन्ततः उनकी सहमति पाकर, उनसे मैंने सामूहिक विवाह कर लिया । अब उनके भरण-पोषण के लिए कोई अभाव नहीं है । उनकी सामाजिक स्थिति, कृष्ण की रानियों की है ।...उन्हें पति का प्यार तो क्या दे पाऊंगा ; हां ! उन्हें सुहाग अवश्य दिया है । अब वे भीमामुर द्वारा अपहृत अथवा हाट में बेची गई अपमानित नारियां नहीं हैं ; वे कृष्ण की पत्नियां हैं ।” कृष्ण ने पुनः हंसकर सुदामा को देखा, “यदि कोई अन्य पुरुष उनमें से किसी को भी प्रेम और सम्मान के साथ अंगीकार करने का साहस करता तो कृष्ण को बड़ी प्रसन्नता होती ।”

यद्यपि यह सुदामा का स्वभाव नहीं था ; फिर भी जाने क्यों कृष्ण के संदर्भ में प्रेम और विवाह के प्रसंगों ने, सुदामा के मन में एक चुहल जगा दी थी ; पर कृष्ण का वक्तव्य तो उस लालित्य को ही सोल गया । सुदामा के सम्मुख भ्रमर-प्रवृत्ति का रसिक नहीं, सामाजिक मर्यादा की रक्षा करने वाला तथा एक नई नैतिकता की स्थापना करने वाला एक साहसी गंभीर पुरुष बैठा था ।...सुदामा का अपना जीवन, इन सारे प्रसंगों से संबंधा शून्य था । न उनकी कोई सखी थी, न प्रिया । उनका जीवन तो वेदों के शुष्क चिन्तन और ब्रह्मचर्य के कठोर संयम में बीता था । सुशीला तो उन्हें

धर्मपत्नी के रूप में मिली थी। वे कृष्ण को और ही प्रकार का रसिक-  
वृन्दावन की गोपियों के विषय में पूछने का साहस सुदामा को नहीं हुआ।  
“अच्छा! मैं स्नान कर आऊँ।”

कृष्ण अभी तक अपनी गंभीर मुद्रा छोड़ नहीं पाए थे। पर, वे स्वयं  
जाकर, सुदामा को स्नानागार तक छोड़ आए।

कृष्ण आकर पुनः कक्ष में बैठे, तो उनकी अपनी चितन-प्रक्रिया चलती चली  
गई। सुदामा ने पूछा नहीं, किन्तु उसके मन में अवश्य ही व्रज की गोपिया  
भी रही होगी। कृष्ण का नाम आते ही, लोगों के मन में गोपियों की चर्चा  
भी जाग उठती है। कृष्ण का मन, भीतर ही भीतर अपना अतीत कुरेदने  
लगा था।

कृष्ण ने अपने लड़कपन से ही यह अन्तर पहचान लिया था। डील-  
डौल में बहुत अन्तर होने पर भी, बलराम का उनसे वय में बहुत अन्तर  
नहीं था। किन्तु, स्वभाव का अन्तर इतना स्पष्ट था कि छिपाए भी नहीं  
छिप सकता था। बलराम, मा के पास बैठने में, मा के साथ कहीं जाने में  
झेंपते थे। शायद उन्हें लगने लगा था कि वे बहुत बड़े हो गए हैं और मा  
के साथ संबंध, छोटे बच्चों का ही होता है। कृष्ण को इसमें तनिक भी  
संकोच नहीं होता था। वे माता यशोदा के पास घंटों बैठे रह सकते थे।  
उनके पास बातों की कमी नहीं थी। कितना कुछ होता था, मा को बताने  
को, सुनाने को। उन्हें मा के साथ बाहर जाने में भी अच्छा लगता था;  
संकोच तो नहीं ही होता था—एक प्रकार से गर्व की अनुभूति होती थी।  
लोग देखेंगे कि कौसी है उनकी मां। सुन्दर, स्वस्थ, समझदार और ममता-  
रन्धी। ऐसी मा पर किसको गर्व नहीं होगा।

अपनी मा के अतिरिक्त, कृष्ण पड़ोस की महिलाओं के पास भी बैठ  
आया करते थे। किसी के साथ बातें करते रहते, किसी के काम में हाथ  
बंटाते। किसी का कुछ बना आते, किसी का कुछ बिगाड़ आते। पर कौन  
उनसे दृष्ट होता—कोई काकी थी, कोई मौसी, कोई साई थी, कोई युआ  
कोई आजी थी, कोई नानी—सारा नन्दगाव उनका अपना था।

बलराम, या अपने घर पर रहते या वन में; पर कृष्ण किसी के भी

घर में हो सकते थे। उन्हें कभी कहीं परायापन लगा ही नहीं। बलराम को एक बार माता रोहिणी ने अपनी भुजाओं में भरकर प्यार कर लिया था तो वे कितने लजा गए थे। गाल लाल हो गए थे और वे मुंह चुराकर भाग गए थे। पर, कृष्ण तो स्वयं ही माता की गोद में जा बैठते थे, उनसे लिपट जाते थे। माता, कभी तो उन्हें कृत्रिम रोप दिखाती हुई, परे हटा देती थीं, और कभी लिपटाकर चूम लेती थी। कृष्ण के लिए, यह मां का सहज प्यार था—“इसमें संकोच क्या?”—कृष्ण की तब अपनी कोई वहन नहीं थी, पर उन्हें नन्दमाव की अनेक गोपियां अच्छी लगती थी—अपनी बड़ी वहन के समान। वे छोटे भाई के अधिकार से अनेक बार उनके पास जा घमकते थे और वे भी उन्हें अपना भाई मान लेती थीं। श्रावणी दीदी ने तो एक बार ‘मेरा भैया’ कहकर, सार्वजनिक रूप से उनका माया चूम लिया था।

कुछ और बड़े होने पर रूपा भाभी उन्हें बहुत अच्छी लगने लगी थी। रूपा भाभी, देवा भैया की परनी थी। अनेक बच्चे उन्हें काकी भी कहते थे। कृष्ण भी चाहते तो मजे में उन्हें काकी कह सकते थे, पर कृष्ण ने उन्हें सदा भाभी ही कहा। उन्हें देखते ही कृष्ण के मन में प्रसन्नता का जैसे कोई उरस फूट पड़ता; और प्रसन्नता, ऊर्जा बन जाती। रूपा भाभी को देखते ही कृष्ण इतने बाघाल और चंचल हो उठते थे कि उन्हें भय होता कि कहीं कोई अटपटी बात न कह डालें। पर, वे अपनी उस ऊर्जा का क्या करते। मन होता, वासुरी में कोई आह्लादक राग छेड़ दें, या फिर जोर से नाचने लगे। रूपा भाभी, एक बार मुस्कराकर, उनसे कोई बात कर लेती तो वे धन्य हो जाते। और यदि वे अपना कोई काम कह देती, तो कृष्ण कृतकृत्य हो जाते। उन्हें लगता कि उनके जीवन का यह एक दिन सार्थक हो गया है—

तब तक बलराम और उनके मित्रों ने खेल को लेकर लड़कों और लड़कियों का बहुत भ्रष्ट डान दिया था। तब तक जो बच्चे इकट्ठे खेला करते थे, उनमें से लड़कियों और लड़कों के खेल अलग-अलग हो गए थे। अलग ही नहीं—वे लोग एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी भी हो गए थे। किन्तु, कृष्ण के व्यवहार में कहीं कोई अंतर नहीं आया था। वे लड़कों के साथ

जितना खेलते थे, लड़कियों के खेल में भी उतना ही रस लेते थे। कभी-कभी ललिता उन्हें छोड़ा करती, 'कृष्ण तो लड़की है।' 'चलो हूँ। तो उससे क्या? तुमसे तेज़ रस्सी कूद सकता हूँ। तुमसे ऊंचा झूला झूला सकता हूँ। तुमसे अच्छा नाच सकता हूँ।...'

वैसे कृष्ण, बलराम भैया से भिन्न थे भी। कृष्ण अखाड़े में कुस्ती लड़ते थे। वन में गायें चराने जाते थे। हिंस्र पशुओं से भिड़ जाते थे। लोगों का संगठन करने की सोचते थे; और फिर कृष्ण बांसुरी बजाते हुए, रासलीला करने लगते थे... पर बलराम भैया की गति न संगति में थी, न नृत्य में। इनकी बात आते ही, वे अलग हो जाते थे। कृष्ण वहाँ भी नामक थे और यहाँ भी। सारी रास-मंडली गोपियों की हो, तो भी अकेले कृष्ण उनमें नाचते थे।... बलराम भैया और उनके मित्र चिढ़ जाते थे... 'सारी गोपियो में एक कान्ह...'।

कृष्ण हंसा करते थे, 'गोप हों, तो भी उनमें कान्ह हैं और गोपियाँ हों तो भी...'

पर सबसे पहले कुछ भिन्न अनुभव हुआ था, जब रूपा भाभी की चहेती माधवी ने, एक दिन राह किनारे रोक, उनके बहुत निकट आ, उनके कंधे पर हाथ रखकर कहा था, 'कृष्ण! मैं तुमसे प्रेम करती हूँ।'

माधवी कृष्ण को अच्छी लगती थी। बहुत सुंदर थी माधवी। पर रूपा भाभी जैसी नहीं। कृष्ण हंस पड़े थे, 'मैं भी तुमसे बहुत प्रेम करता हूँ माधवी दीदी।'... और जाने कैसे कृष्ण ने जोड़ दिया, 'मैं तो रूपा भाभी से भी बहुत प्यार करता हूँ।'

बाहर वर्षों के किशोर कृष्ण समझ नहीं पाए थे कि माधवी उनकी बात से प्रसन्न क्यों नहीं हुई। उस पर जैसे उत्कापात हो गया था। चेहरे का वर्ण मलिन हो गया। लगा कि अभी रो देगी। और फिर बिना कुछ कहे, वह चली गई। उसने कृष्ण से कभी बात नहीं की। उसके कुछ दिनों बाद ही उसका विवाह भी हो गया था।

कृष्ण चढ़े ही रहे थे। उसके मन में कुछ नये भाव जाग रहे थे। अपने प्रति गोपियों के आकर्षण को वे कुछ-कुछ समझने लगे थे, जब उन्हें वृन्दावन में, बरसाने से आई वृषभानु की बेटी राधा मिली थी। राधा उनसे

तीन-चार वर्ष बड़ी रही होगी। बड़ी आकर्षक और चंचल लड़की थी। जब आवश्यकता पड़ती, बड़े होने का रोब झाड़ लेती; और जब इच्छा होती, समवयस्क अथवा छोटी सखी बन कृष्ण से अपना अनुरोध मनवा लेती।

रास में राधा के साथ नाचते हुए, कृष्ण ने पहली बार स्त्री-स्पर्श का रोमांच जाना था। उन्हे पहली बार लगा था कि जो कृष्ण अब तक सबको प्यार करता था, वह कुछ बदल गया है। राधा के प्रति उसका आकर्षण सब के प्यार में नहीं समाता। राधा के साथ बातें करने का उनका मन होता है, पर भीड़ में नहीं। एक राधा ही है, जिसके साथ वे एकांत चाहते हैं... पर राधा ने बड़े सहज भाव से उन्हें बसा दिया था कि अय्यन गोप के साथ उसका विवाह होने वाला है। वह अय्यन की वाग्दत्ता है। अय्यन गोप कंस की सेना में एक साधारण सैनिक था और प्रायः मथुरा के किसी सैनिक पड़ाव में रहता था।...जब कभी वह आएगा, राधा का उससे विवाह हो जाएगा। अय्यन के माता-पिता और उसके कुटुम्बी जन वृन्दावन में ही थे; और वे लोग राधा की...अपने घर की बहू के रूप में लौज-खबर भी रखते थे...

कृष्ण ने अपनी भावना को वहीं रोक लिया था। इस कामना-लता को बढने देने का कोई लाभ नहीं है। दूसरे की वाग्दत्ता...अच्छा किया, राधा ने आरंभ में ही बता दिया। कही बात बढ जाती...

पर दूसरे की वाग्दत्ता होने का राधा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। वह उनकी बाल-सखियों के रूप में ही, उनसे मिलती थी। सार्वजनिक रूप से नृत्य में सम्मिलित होती थी। कृष्ण को चिढ़ाती और खिजाती थी; पर एकांत होते ही गंभीर हो जाती थी। वह अपने मन की बहुत सारी बातें कृष्ण से करती थी। अपने घर की घटनाएं बताती थी। उसने कृष्ण से कह दिया था कि अय्यन के वृन्दावन में आते ही, वह उसे कृष्ण से मिला देगी। वे दोनों तब भी मिला करेंगे। वह कृष्ण के घर आया करेगी, कृष्ण उसके घर जाएंगे...

और ऐसे ही एक दिन बातें करते-करते राधा कृष्ण को बहुत दूर ले गई थी। वे चलते ही चले गए थे, बिना थके, बिना रुके हुए। और सहसा राधा रुक गई...



“तुम्हारा हाथ कितनी शीतलता देता है।” राधा जैसे अचेतनावस्था में ढोल रही थी।

“मे तुम्हारा सिर दबा देता हूँ।” कृष्ण अपने होठों में बुदबुदाए, “तुम्हें ज्वर है राधा।”

कृष्ण का हाथ राधा के माथे पर फिरता-फिरता, उसके केशों को सहलाने लगा था : कितने चिकने और मुलायम बाल थे राधा के। इच्छा होती थी, खूब मन लगाकर उन बालों को संवारा जाए और जब बाल पूरी तरह संवर जाएं, राधा उन्हें देखें और इठलाने की मनःस्थिति में आए तो कृष्ण अपनी अंगुलियों के बबडर से उस सारी केश-सज्जा को बिगाड़ दें और खिलखिलाकर हंस पड़ें...

कृष्ण का अपना माथा तपता जा रहा था। वक्ष में जैसे भट्ठी तपने लगी थी और सात रुकने-सी लगी थी। वे देख रहे थे कि राधा, उनकी गोद में सिर रखकर लेटी हुई है। उनका हाथ उसके माथे को दबाता-दबाता, उसके बालों के साथ-साथ कपोलों को भी सहलाता जा रहा था... उनका विवेक उन्हें रोक रहा था, और हाथ था कि विवेक के कहने में नहीं रहना चाहता था...

क्या था यह सब ? क्या सचमुच राधा अस्वस्थ थी और उसे इस क्षण भर विश्राम की आवश्यकता थी, या वह अस्वस्थता की आड़ में अपनी किसी अन्य इच्छा की पूर्ति कर रही थी... और स्वयं कृष्ण ? वे सचमुच रोगी की सुधुपा कर रहे थे या स्वयं के अनाम सूत का भोग...

पर कृष्ण का विवेक तब भी उन्हें रोक रहा था... राधा अटपट की वाग्दत्ता है। वह कभी कृष्ण की नहीं हो सकती। फिर, जो उनकी हो नहीं सकती, उसके प्रति ऐसा व्यवहार ? .. पर इसमें कृष्ण का क्या दोष ? कृष्ण ने तो यह सब नहीं चाहा था। पर राधा ? राधा तो अस्वस्थ थी। अस्वस्थ व्यक्ति की वाध्यता का लाभ ? ...

वह प्रश्न आज भी कभी-कभी कृष्ण के मन में कसकने लगता है। ... यदि राधा अस्वस्थ न होती, तो क्या वैसे भी कृष्ण की गोद में सिर रखकर लेट जाती ? .. यदि कहीं राधा ने स्वस्थ अवस्था में ऐसा किया होता तो

कृष्ण का व्यवहार क्या होता ? वे राधा की कामना जान, उसे स्वीकृति देते ? क्या उसे अय्यन से अपना संबंध तोड़ लेने का परामर्श देते ?... राधा ने अस्वस्थ अवस्था में यदि अपनी कामना प्रकट भी की तो कृष्ण के मन में वह घटना ग्लानि-बोध छोड़ गई। वह तो रोगी की आवश्यकता थी, उसे कृष्ण ने राधा की कामना कैसे मान लिया ?... राधा तो उसके बाद भी उनकी सखी ही रही—सखी से बढ कर उसने कभी कुछ होना भी नहीं चाहा।

आज कृष्ण सोचते हैं तो बहुत सारी बातें उनके मन में उठती हैं। तब क्या वय था कृष्ण का ? चौदह वर्ष !... आज वे प्रेम और नारी-पुरुष के आकर्षण के विषय में बहुत कुछ सोचते-समझते हैं। वे जानते हैं कि जब एक किशोर, किसी किशोरी की किसी मगिमा पर पिघल-पिघल जाता है, तो वह नहीं जानता कि प्रकृति उसके भीतर सृष्टि की कामना उत्पन्न कर रही है। जब किशोरी एकांत कक्ष में, अपना श्रृंगार करती है, तो वह अनजाने ही प्रकृति की उसी सृष्टि-कामना को अभिव्यक्त कर रही है। प्रकृति अपने-आपको नवीन सृष्टि की परंपरा में अभिव्यक्ति देती रहती है और उसकी पूर्ति करता है पुरुष को आकृष्ट करने वाला स्त्री का रूप, और उस रूप के सामने अवश हो जाने वाला पुरुष का मन..."

पर तब तो कृष्ण यह सब नहीं समझते थे। उन्होंने अपने जीवन में बहुत कुछ, वय से पहले समझा और बूझा है; पर प्रकृति के उस प्रपंच से उन्हें किसने सुरक्षित रखा—वे आज तक समझ नहीं पाए।

आज सोचते हैं तो उन्हें लगता है कि प्रकृति का वह प्रलीभन बहुत मोहक था... कुंज में उनकी गोद में सिर रखकर सो जाने वाली राधा, धनी में एकांत होते ही उनके कंधे पर हाथ रख सखी भाव से बातें करने वाली ललिता, स्वयं से सदा भागने की शिकायत करने वाली—अनेक सखिया थी वृन्दावन में। पर तब तक कृष्ण के मन में कस के अत्याचारी का रूप स्पष्ट हो चुका था। कृष्ण, प्रकृति की एक इच्छा—'सृष्टि'—को अर्पित हो गए होते, तो अत्याचार का विरोध कर प्रकृति में संतुलन स्थापित करने की ओर कैसे बढ़े होते—पर यह सब न उद्भव ने समझा है, न भैया बलराम ने, और न ही सुदामा समझेगा। और अब तो वे घटनाएं

और फिर सुदामा की ओर मुड़े, "मैं सं.च ही रहा था कि तुम्हारी मॅट उद्व.से भी हो ही जाए ।"

सुदामा के चेहरे पर उत्फुल्लता झलकी : पर उनके कुछ कहने से पहले ही उद्व ने कस में प्रवेश किया ।

उन्होंने सुदामा को वहां देख, कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया । आकर सहज रूप से गले मिले और बैठ गए, "मुझे सूचना मिली कि सुदामा आया हुआ है, तो मैं समझ गया कि गोविन्द.का कही और मिलना अब संभव. नहीं है ।"

कृष्ण हंसें, कुछ बोले नहीं ।

"कैसे हो सुदामा ।" उद्व ने पूछा ।

उत्तर देने से पूर्व, सुदामा ने एक भरपूर दृष्टि उद्व पर डाली : उद्व का कद-काठ पहले से बड़ गया था । अपने-आप में पर्याप्त स्वस्थ और प्रसन्न भी दिखाई पड़ रहा था; किंतु वह कृष्ण के समान बलिष्ठ और उत्फुल्ल नहीं था । उसके चेहरे पर गंभीर उदासी थी । आखों में चिंतन का आल-जाल था । किंतु, कृष्ण के साथ उसका रूप-साम्य अद्भुत था । संभवतः सगे भाइयों के चेहरे भी इतने नहीं मिलते, जितने इन दोनों चचेरे भाइयों के मिल रहे थे । यदि उद्व, कृष्ण के वस्त्र पहनकर, कृष्ण बन जाएं तो कोई भी यही मान लेगा कि कृष्ण कुछ दुबला हो गया है ।

"ठीक हू ।" सुदामा बोले, "तुम्हारे आ जाने के बाद तो यहां हमारे गुरुकुल का वातावरण और भी सजीव हो उठा है ।"

"हा !" उद्व का स्वर गंभीर था, "हमारा साझा तो गुरुकुल के जीवन में ही है । एक-दूसरे से मिलने पर वही याद आएगा, हम बार-बार उसी जीवन को दुहराएंगे ।"

"उसी को मत दुहराते जाओ ।" उद्व की गंभीरता की पृष्ठभूमि में कृष्ण की उत्फुल्लता कुछ और अधिक मुखर हो उठी, "ऐसी मैत्री स्थायी नहीं होती । मनुःय का जीवन निरंतर आगे बढ़ने वाली एक धारा है । यदि मैत्री उस धारा के साथ-साथ न चले, उसके एक घाट से ही बंधकर रह जाए तो धारा उस घाट की उपेक्षा करने लगती है । कभी उसे छोड़-कर परे हट जाती है; कभी उसे उखाड़ फेंकती है; और कभी उस जल-

मग्न कर भूल जाती है।”

मुदामा मुग्ध भाव से कृष्ण को देखते रहे—कृष्ण पहले भी शेष लोगों से कुछ न्यारा था, असाधारण। पर इधर तो उसका तीव्र विकास हुआ है। उसका अनुभव-क्षेत्र बहुत बड़ा है। जीवन के विस्तार और गहराई को उसने देखा-गरसा और समझा है। मुदामा तो अपनी पोषियों में ही उलझ कर रह गए हैं। कृष्ण सक्रिय है और व्यवहार-कुशल ! ... और सुदामा, मात्र निष्क्रिय चिंतक ... एक सहज मरल शिष्टाचार के अनिश्चित व्यवहार तो उन्होंने सीखा ही नहीं है ...

“साय-साय कैसे चला जाए ?” उद्धव बोले, “सुदामा तो रहता है, अपनी सुदामापुरी में ...”

कृष्ण सिलखिलाकर हंस पड़े, “अच्छा नाम दिया है उद्धव तुमने। उस गांव का नाम सुदामा के नाम पर ही होना चाहिए। किनना अच्छा हो कि प्रत्येक स्थान का नाम वहां अग्ने अथवा निवास करने वाले बड़े से बड़े विद्वान् के नाम पर रखा जाए। इसमें किमी भी नगर अथवा ग्राम की विद्वत्ता की पोल तुरंत खुल जाएगी।”

“और किसी स्थान का हो या न हो,” उद्धव बोले, “पर सुदामा के गांव का नाम तो सुदामापुरी हो गया।”

“कल ही ग्राम प्रमुख को सूचना भिजवा दो।” कृष्ण बोले।

“ठीक है।”

“पर बात तो मैत्री की ही रही थी।” सुदामा ने टोका, “और तुम दोनों किधर बहक गए।”

“हां! मैं कह रहा था,” उद्धव बोले, “सुदामा उलझे हैं अपनी पोषियों में और हम कभी किसी युद्ध में, कभी युद्ध-परिपद् में ...”

“तभी तो कह रहा हूँ।” कृष्ण अपने आश्वस्त स्वर में बोले, “एक-दूसरे की खोज-खबर तो रखनी चाहिए। नही तो व्यक्ति अपने विकास से तो परिचित होता है, दूसरे के विकास से अनजान रहता है। इसलिए अपने महत्त्व को तो बहुत अधिक आंकता है, दूसरे के महत्त्व को जानता तक नहीं। परिणामतः उसका अहंकार बढ़ता है और वह दूसरों की उपेक्षा और तिरस्कार करने लगता है।”

“तुम लोग क्या कर रहे हो, इसकी सूचना मुझ तक तो किसी-न-किसी रूप में पहुंच ही जाती है।” सुदामा ने कहा, “कठिनाई तुम्हें होगी, मेरा समाचार कौन लाएगा यहां।”

कृष्ण हंसे, “यह मत सोचो। हमें तुम्हारी सारी सूचनाएं रहती हैं। आगे भी रहेंगी।”

सुदामा के मन में आया, कहें, ‘जब तुम्हें सूचना थी तो मेरी सहायता को क्यों नहीं आए। पर फिर चुप ही रह गए—उन्हें भी तो कृष्ण की कठिनाइयों, कष्टों तथा जोखिमों की सूचनाएं मिलती रहती हैं; वे ही कब-कब कृष्ण की सहायता को आए...’

“तो उद्धव का विकास जान लें,” सुदामा ने स्वयं को संतुलित किया, “मैंने सुना था कि उद्धव जब व्रज में गोपियों से मिलकर आए तो उनका ज्ञान-मार्ग डोल गया और ये भक्ति की ओर आकृष्ट हो गए?”

“हां! कुछ संशय तो पैदा हुआ है।” उद्धव का स्वर और भी गंभीर हो गया, “पर भक्ति पर भी पूरी तरह स्थिर रहना मेरे लिए संभव नहीं हो पाया है। उस विषय में कई बार कृष्ण से बात भी की है। अब देखा...” उद्धव की दृष्टि सुदामा पर टिक गई, “मैंने बरसाने की राधा को कृष्ण की भक्ति करते देखा है। यह अपनी भक्ति में इतनी तन्मग है कि उसे देखकर कोई भी विह्वल हो जाता है। पर राधा को कृष्ण नहीं मिले।”

“तुम्हारा विचार है कि भक्ति से कोई उपलब्धि नहीं होती?” सुदामा ने पूछा; और बिना कोई उत्तर पाए ही उन्होंने आचार्य ज्ञानेश्वर द्वारा, राजपुरुष की भक्ति की कथा सुना कर कहा, “तुम क्या समझते हो कि आचार्य ज्ञानेश्वर को इस भक्ति का फल कुछ नहीं मिलेगा?”

“दीनो को मिलाओ मत!” उद्धव को बोलने का अवसर दिए बिना कृष्ण बोले, “एक प्रेम-मिश्रित भक्ति है और दूसरी सीधी-सीधी चाटुकारिता। भक्ति एक भाव है और चाटुकारिता कर्म—यद्यपि निकृष्ट कर्म है। पर कर्म वह है और उसका फल आचार्य को मिलेगा।”

“तो तुम भी यही कहना चाहते हो कि भक्ति का फल नहीं मिलता?” सुदामा ने अपना प्रश्न दुहराया।

“ठहरो ! पहले मेरी बात सुनो।” उद्धव ने कृष्ण को बोलने नहीं दिया, “मैंने यह नहीं कहा कि राधा को कुछ नहीं मिला। राधा से पूछो कि उसे कृष्ण मिले या नहीं, तो उसका उत्तर होगा कि कृष्ण सदा मेरे पास है। वे मेरी आंखों में हैं, मेरे मन में हैं, मेरी आत्मा में हैं...”

“इसे तुम प्राप्त मानोगे ?” सुदामा ने तुनककर पूछा।  
“पूरी बात तो सुनो भाई।” उद्धव अपने गभीर स्वर में बोले, “राधा के अनुसार तो उसे अपने मन-भावन की प्राप्ति हो गई है। उससे अधिक की उसे आकांक्षा भी नहीं है।” पर दूसरी ओर हमारी रुक्मिणी भाभी है। वे भी कृष्ण की भक्ति करती हैं। पर उन्होंने केवल भक्ति ही नहीं की। उनकी कामना भावनात्मक धरातल पर ही नहीं रही, वे सक्रिय हुईं। उन्होंने अपने भाई और पिता का विरोध किया। किसी अन्य पुरुष से विवाह न करने पर तुली रही। कृष्ण को सदेश भिजवाया— अर्थात् उन्होंने कर्म किया और उन्हें कृष्ण प्राप्त हुए...।”

“कैसे प्राप्त हुए ?” कथ में प्रवेण करती हुई रुक्मिणी ने पूछा।  
“बड़े समय से आई।” कृष्ण मुस्कराए, “तुम्हारी ही चर्चा हो रही थी।”

“तो मेरी पीठ पीछे निन्दा हो रही थी। क्या देवर जी ?” वे सुदामा की ओर मुड़ी, “क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है ?”

“अरे भाभी ! क्या मुझ पर पाप लादती हैं।” सुदामा ने बड़े सहज और आत्मीय भाव से हाथ जोड़ दिए, “मैं तो उद्धव की चर्चा अवाक् होकर सुन रहा हूँ।”

“अवाक् !” कृष्ण हँसे। बिलकुल ठीक शब्दों में कहा है सुदामा ने, अवाक् !

“आप लोग आज सोएंगे नहीं क्या ?” रुक्मिणी ने विषय बदल दिया।

“सोएंगे !” कृष्ण कुछ लीलापूर्वक मुस्कराए, “मैं और सुदामा यही सोएंगे। अधिक देर हो गई तो उद्धव को भी यही मुला लेंगे।”

“तो आज गण्-गोष्ठी चलेगी।” रुक्मिणी भी एक आसन पर निश्चित भाव से बैठ गई, “यदि इस पुरुष समुदाय को आपत्ति न हो तो

यह स्त्री भी थोड़ी देर यहां ज्ञान-चर्चा सुन ले।”

“तब तो आपको निराशा होगी। यहां ज्ञान-चर्चा नहीं, भक्ति-चर्चा हो रही है।” सुदामा बोले।

“भक्ति-चर्चा हो या ज्ञान-चर्चा। अब रुक्मिणी यही बैठेगी, क्योंकि उसे संदेह हो गया है कि उदब उसकी निन्दा कर रहा था।” कृष्ण हंसे।

“तब तो भाभी का यहां उपस्थित रहना और भी आवश्यक है। नहीं तो भेरा कलंक धुलेगा कैसे।” उदब बोले, “देखिए भाभी! मैं यह कह रहा था कि भक्ति एक भावना है, इसलिए उससे जो उपलब्धि होती है, वह भावनात्मक घरातल पर ही होती है। व्यावहारिक घरातल पर उपलब्धि के लिए कर्म के घरातल पर उतरना पड़ता है।... देखिए! देवकी काकी कारागार में भी भक्ति ही करती रही, किंतु अपनी किसी सन्तान को दत्ता नहीं पाई; किंतु काका ने जब गर्गाचार्य के माध्यम से नन्द बाबा से संपर्क किया, योजना बनाई और वासुदेव को लेकर कारागार से बाहर यमुना पार पहुंचाने का उद्यम किया तो वे बच गए और उन्हीं के हाथों अपने माता-पिता की ही नहीं, समस्त यादवों की मुक्ति हुई।”

“तो फिर भक्ति का लाभ क्या हुआ?” रुक्मिणी बोलीं, “मुख्य तो कर्म ही हुआ। अविनाश कर्म ही करे।”

“तुम क्या कहते हो कृष्ण?” सुदामा ने पूछा, “व्यक्तिगत रूप से मुझे तो भक्ति ने बहुत उल्लास रखा है। एक योगियों की भक्ति है। एक यज्ञ का कर्मकांड है, एक पूजा का विधि-विधान है। मैं सोचता हूँ तो लगता है कि योगी ध्यान करता है, यज्ञ-कर्ता एक संकल्प करता है, माला के मनके फेरने वाला स्मरण करता है।—क्या यह सब भक्ति है? और फिर मेरे मन में कहीं यह संदेह भी है कि भक्ति से सांसारिक सफलताएं मिल सकती हैं क्या? यदि भक्तों के अनुसार हम यह मान लें कि भक्ति से भक्त की मनोकामनाएं पूरी होती हैं, और मनोकामनाएं तो सबकी-सब सांसारिक हैं; हमें यह भी मानना पड़ेगा कि भक्ति से ही सांसारिक मनोकामनाएं पूरी होती हैं। पर यदि ईश्वर हमसे भक्ति ही चाहता है तो उसने यह नियम क्यों नहीं बना दिया कि प्रतिदिन एक निश्चित अवधि तक भक्ति करने पर ही मनुष्य को भोजन मिलेगा? दूसरी ओर मैं यह भी सोचता हूँ

कि भक्तों को मैंने सदा सुखी ही तो नहीं देखा। भक्त लोग भी उतना ही कष्ट पाते हैं—जितना कि अन्य लोग। वे भूख से भी तड़पते हैं और रोग से भी। तो भक्ति का क्या लाभ? भक्ति से क्या मिलता है मनुष्य को?" सुदामा ने रुककर कृष्ण की ओर देखा।

"मैं भक्ति को सर्वथा व्यर्थ तो नहीं मानता; पर स्वयं को उद्वेग के चिंतन के काफी निकट पाता हूँ।" कृष्ण धीरे से बोले, "भक्ति भावना है और ज्ञान चिंतन। यदि व्यक्ति चाहे तो उनका समाहार कर्म में कर सकता है। प्रकृति ने, जिसे सुदामा ने ईश्वर कहा है, यह नियम तो नहीं बनाया कि अन्न उपजाने के लिए किसी अलौकिक सत्ता की भक्ति करनी होगी; पर यह नियम अवश्य बनाया है कि अन्न उपजाने के लिए धरती पर श्रम करना होगा।" कृष्ण ने रुककर उद्वेग की ओर देखा, "पर भावना के रूप में भी भक्ति सर्वथा निष्फल नहीं है। किसान यदि धरती के प्रति भक्ति-भाव रखता है तो वह उसे जोतते, बोते, काटते हुए इस बात का ध्यान रखता है कि वह धरती की उर्वरा शक्ति बनाए रखे, उसे क्षीण न होने दे। कृषि-शास्त्री धरती की पूजा करता है तो दिन-रात मिट्टी के कणों का परीक्षण और प्रयोग करता है, सिंचाई का चिंतन करता है, बीजों के प्रकारों का अध्ययन करता -। अतः वे लोग अपनी इस भक्ति के कारण, धरती से अधिक अन्न पाने में सफल होते हैं। पर यदि वे लोग अपने पसीने के ध्यान पर धूप, दीप और बंदन से धरती की पूजा करते हैं तो उन्हें कोई लाभ नहीं होता। यह वैसे ही है कि सुदामा दिन-रात पोषियों और विचारों से सिर मारता है तो ज्ञान पाता है। यदि यह सरस्वती की मूर्ति बनाकर उसकी आरती उतारता रहे तो इससे बड़ा बौद्धिम कोई न होगा।"

"पर यह तो आपने भक्ति को कर्म में बदल दिया।" रुक्मिणी शांत स्वर में बोली, "आप शुद्ध भावात्मक भक्ति की बात कीजिए।"

"भावात्मक भक्ति, व्यक्ति का स्वयं को तपाकर स्वच्छ करने का प्रयत्न है।" कृष्ण बोले, "वह एक बड़ी वस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न है, जिसके कारण छोटी वस्तुओं की कामना छूट जाती है। सात्विक भक्ति में व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं से मुक्त होता है; क्योंकि वह स्रष्टा को पाने के प्रयत्न में संपूर्ण सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। वस्तुतः यह



तादात्म्य भी और कुछ नहीं है, अपनी वैयक्तिक सीमाओं का, अतिक्रमण का, अपने विराट् अस्तित्व को पहचानने का प्रयत्न है; एक ऊँचे घरातल पर जीने का प्रयत्न, किंतु भावना के घरातल तक ही। इस दृष्टि से भक्ति एक अनुभूतिमात्र है।" कृष्ण क्षण भर के लिए रुके, "सकाम भक्ति-मार्गियों के तर्कों पर विचार करने के लिए हमें उनकी मूलभूत मान्यताओं के आधार पर ही अपना तर्क विकसित करना होगा। वे यह मानते हैं कि ईश्वर का हमसे पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व है। वह हमसे प्रसन्न होता है तो हमें धन-संपत्ति, सुख-सुविधाएँ, मान-सम्मान तथा सांसारिक भोग देता है। पृथ्वी के भोग भी तो ही है जिसकी जगह स्वर्ग है ही जगती है। भगवान् खाना, अन्न . . . . .

मनुष्य की

मनुष्य चाहे न समझे, किंतु प्रकृति का नियम अत्यन्त स्पष्ट है—आवश्यकता से अधिक भोग, शारीरिक और मानसिक अलस्य, रोग और अहंकार की ओर ले जाता है। यह सुफल तो नहीं है। ईश्वर यदि अपनी भक्ति का फल देना चाहेगा, तो सांसारिक भोग क्यों देगा, जो आध्यात्मिकता का विरोधी है। धन चाहिए तो लक्ष्मी की मूर्ति की पूजा के स्थान पर किसी धनी श्रेष्ठि की चाटुकारिता करो तो धन शीघ्र मिलेगा। संसार में घोखे और अत्याचार से भी धन मिलता है; अतः धन भगवत् कृपा का फल नहीं हो सकता। मैं यह मानता हूँ कि भक्ति से सांसारिक भोगों की उपलब्धि नहीं होती, उन भोगों की कामना नष्ट होती है।"

"सुख-समृद्धि की बात जाने दीजिए। मान लिया कि मनुष्य की भावना नहीं, मनुष्य का श्रम उसे उत्पन्न करता है," रुक्मिणी बोली, "पर कुछ और क्षेत्र भी हैं : जैसे मनुष्य का जीवन, उसकी आयु। जब हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमें दीर्घायु दो, तो यह भक्ति ही तो है। उसमें कर्म क्या करेगा?"

"यहां सुदामा की बात ठीक है। यह भक्ति नहीं है, कामना है; और कामना के साथ कर्म न हो तो भक्ति उस कामना को तो पूर्ण नहीं कर सकती।" कृष्ण बोले, "जैसे कोई व्यक्ति प्रतिदिन अपनी दीर्घायु के लिए कामना करे और साथ ही साथ विप या विपाक्त वस्तुओं का सेवन करे।

उसकी भक्ति उसे बचा नहीं पाएगी। एक विद्यार्थी विद्वान् बनने की कामना करे। मंदिर जाकर देव-मूर्तियों के सामने घंटों बैठा रहे, किंतु विद्याभ्यास न करे। एक सैनिक महारथी बनने की प्रार्थना करता रहे और रास्त्रों और रथों के संचालन का अभ्यास न करे—तो उनकी भक्ति उन्हें कोई फल नहीं दे पाएगी।”

“पर कुछ लोग ऐसे हैं कृष्ण,” सुदामा के स्वर में आग्रह था, “यद्यपि वे मेरी समझ में नहीं आते; पर वे भक्ति करते हैं और उनके पास धन-संपत्ति और जीवन के भोग की सुविधाएं प्रचुर मात्रा में हैं।”

“तुम किसकी बात कर रहे हो, मैं नहीं जानता; पर यदि ऐसा कोई है तो गहराई से खोज करो।” कृष्ण बोले, “तुम पाओगे कि सुख-समृद्धि के लिए सकाम-भक्ति एक पाखंड है। यह एक उद्यम है धनोपाजन का। इससे धन-संपत्ति ही प्राप्त होती है, सात्विकता नहीं। विराट प्रकृति के निकट ले जाकर कामना-मुक्त कराने के स्याम पर, यह अधिक से अधिक मोह में फंसाती है। और एक होती है लौकिक सकाम भक्ति, जो मनुष्य को धनो-पाजन करना नहीं, धन की याचना करना सिखाती है। यह धान ग्रहण करने की स्थिति है। यह धनाजन नहीं, भीख है, जो कोई स्वाभिमानी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा।” कृष्ण ने हककर सुदामा की ओर देखा, “वस्तुतः भक्ति के चमत्कार से विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति और सुख-संपदा की प्राप्ति की धारणाएं, संसार को चमत्कारपूर्ण माननेके भ्रम पर टिकी-हैं। प्रकृति नियमों पर चलती है, चमत्कार इसमें नहीं हैं—इसलिए भावनाओं और कामनाओं मात्र से उपलब्धि कुछ नहीं होती...”

“और ईश्वरीय क्षमा...” रुक्मिणी ने ही टोका, “भक्ति करने पर क्या ईश्वर मनुष्य के पाप को क्षमा नहीं करता?”

“ऐसा होने लगा तो सारा कर्म-सिद्धांत व्यर्थ हो जाएगा। ईश्वर या प्रकृति का न्याय कहाँ जाएगा? सत्य और कार्य-कारण के नियम कहाँ जाएंगे?” कृष्ण का स्वर कहीं दूर से आता प्रतीत हुआ, “अपराध या पाप करने के पश्चात् जब मनुष्य पश्चात्ताप के लिए ईश्वर या प्रकृति की शरण में जाता है तो उसका अर्थ एक ही होता है कि वह अपने अपराधों का दंड स्वीकार करने की मानसिकता तैयार कर रहा है। शरणार्थि का अर्थ ही

यही है कि वह प्राकृतिक न्याय को स्वीकार करेगा। हां," कृष्ण कुछ रके,  
 "शरणागति के साथ कर्म तो निष्काम कर्म ही है...।"

सहसा रुक्मिणी उठ खड़ी हुई, "मेरा विचार है, मैं अब चलूं। अभी तो भक्ति ही समाप्त नहीं हुई, कही निष्काम कर्म आरंभ हो गया तो सवेरा ही हो जाएगा।"

"भाभी ठीक कह रही हैं।" उद्धव भी उठ खड़े हुए "कृष्ण, के तर्कों में मोहिनी है। उनके सामने मनुष्य का स्वयं अपने-आप पर वश नहीं रहता। उस सम्मोहन से बचना हो तो भाभी की शरण में ही जाना।"

द्वार पर परिचारक प्रकट हुआ।

कृष्ण ने प्रद्वन भरी आंखों से उसकी ओर देखा।

"इंद्रप्रस्थ से सूचनाएं लेकर एक चर आया है।"

कृष्ण की आंखों में निमिष भर के लिए चिंता का धुंधलापन भलका,  
 "भेज दो।"

चर आया। उसने झुक कर अभिवादन किया, "आर्य। हस्तिनापुर से दुर्योधन ने महाराज युधिष्ठिर को चौपड़ खेलने का निमंत्रण भेजा है। देवी द्रौपदी ने कहलाया है कि संभवतः यह शकुनि का कोई पद्वयंत्र है। महाराज चूत खेलना नहीं चाहते; किंतु क्षत्रिय राजा न युद्ध का आमंत्रण अस्वीकार कर सकता है, न चूत का।"

"पादव इंद्रप्रस्थ से कब चलेंगे?" कृष्ण ने पूछा।

"कदाचित् आज प्रातः चल पड़ेंगे।"

"अच्छा। जाओ तुम विश्राम करो।"

सुदामा ने देखा : अगले ही क्षण कृष्ण फिर से सहज हो गए थे। इंद्र-प्रस्थ से आई सूचना का ठीक-ठीक महत्त्व सुदामा समझ नहीं पाए थे; पर उसमें शकुनि के पद्वयंत्र की चर्चा थी...

रुक्मिणी और उद्धव चले गए तो कृष्ण बोले, "मुझे तो ध्यान ही नहीं रहा सुदामा। तुम तो लंबी यात्रा करके आए हो मित्र। तुम्हें इतनी देर तक जगाए नहीं रखना चाहिए था। अच्छा। अब सो जाओ।"

"आनन्द आ रहा था," सुदामा बोले, "तभी तो मैं स्वयं ही सो

जाता। "चलो बाकी कल सही।"

वे दोनों साथ-साथ विछे पलंगों पर लेट गए। लेटने के पश्चात् कृष्ण ने एक शब्द भी नहीं कहा। सुदामा ने पलटकर देखा : उन्हें लगा, कृष्ण तत्काल ही सो गया है, और उसके चेहरे पर इंद्रप्रस्थ के समाचार की कोई छाया नहीं है।

## नौ

सवेरे, महल में और कोई अभी जागा भी नहीं था कि कृष्ण ने सुदामा को रथ पर बैठाया और रथ हांक दिया।

"हम कहां चल रहे हैं?"

"सोचा, तुम्हें जरा द्वारका का 'गुरुकुल' दिखा दूं।" कृष्ण बंलि, "शस्त्रास्त्रों में तुम्हारी रुचि नहीं है। मुष्टि और मल्ल-युद्ध इत्यादि देख कर तुम क्या करोगे। आर्युविज्ञान तुम सीखना नहीं चाहोगे। तो तुम्हें फुलपति और दर्शनशास्त्र के आचार्य से मिला देता हूं। वैसे तो चाहता था कि तुम गंगाचार्य से भी मिल लो, पर वे आजकल द्वारका में हैं नहीं।"

"और बड़े भैया, बलराम?"

"वे भी बाहर गए हुए हैं।"

"आजकल वे काफी भ्रमण करते हैं।" सुदामा के मुख से अनायास ही निकल गया, यद्यपि वे बलराम के भ्रमण के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे।

"नहीं," कृष्ण हंसे, "कभी-कभी सोमरस पीकर भी पड़े रहते हैं।" यद्यपि कृष्ण ने यह बात हंसकर कही थी, पर उनके चेहरे के भावें बता रहे थे कि बात हसी की नहीं थी।

सुदामा ने बातों की दिशा बदली, "उद्वेग किस समय आएगा।"

पर शायद सुदामा ने फिर गलत प्रश्न पूछ लिया था। कृष्ण और भी गंभीर हो गए, "उद्वेग आज प्रातः इंद्रप्रस्थ चला गया है। वहां से कदाचित्

“यह हस्तिनापुर भी जाए।”

सुदामा ने परीक्षक दृष्टि से कृष्ण को देखा : क्या पूछें ? पूछने में हर्ष ही क्या था। पूछने से कृष्ण की चिंता बढ़ेगी तो नहीं, प्रकट चाहे हों जाए।

“कृष्ण!” सुदामा धीरेसे बोले, “कल जब इंद्रप्रस्थ से समाचार आया था तो तुम कुछ चिंतित हो उठे थे। उद्वेग का तत्काल इंद्रप्रस्थ चल देना भी सिद्ध करता है कि वहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएं घट रही हैं। पर मैं उसका महत्त्व समझ नहीं पा रहा—यदि दुर्योधन ने युधिष्ठिर को चौपड़ खेल के लिए निमंत्रण भेजा है तो उसमें ऐसी क्या बात है। युधिष्ठिर चाहें खेलें, न चाहें न खेलें...।”

कृष्ण ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। उनका ध्यान रथ के घोड़ों पर केन्द्रित रहा।

“बात केवल छूत के खेल की नहीं है।” कुछ क्षण पश्चात् कृष्ण धीरेसे बोले, “धृतराष्ट्र जन्मांध थे, इसमें उनका कोई दोष नहीं था। बड़े भाई की अक्षमता के कारण पांडु को राजा बनाया गया तो पांडु का भी दोष नहीं था। धृतराष्ट्र के पुत्र के रूप में दुर्योधन को अपने पिता की अपंगता के कारण वंचित होना पड़ा। पर इससे उसको यह अधिकार नहीं मिल जाता कि वह पांडवों की हत्या का प्रयत्न करे—जो उसने किया। फिर भी कौरवों के राज्य का अंशवारा हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ के रूप में हुआ—तो बहुत गलत नहीं हुआ। किंतु, दुर्योधन की प्रतिहिंसा अभी शांत नहीं हुई है। वह पांडवों की सम्पन्नता को देखकर ईर्ष्या से जल रहा है। वह द्रौपदी को न पा सकने के कारण अपनी द्रौपाग्नि को बुझा नहीं पा रहा है।...उसके वश में होना तो वह सेनाएं लेकर इंद्रप्रस्थ पर चढ़ दौड़ता, पर वह उसके लिए संभव नहीं है।...अब उसने छूत का निमंत्रण भेजा है। इस निमंत्रण का अर्थ जानते हो?” कृष्ण ने रुककर सुदामा को देखा।

“नहीं।” सुदामा ने बिना कुछ सोचे-समझे सिर हिला दिया।

“आज के समाज में युद्ध-काल में क्षत्रिय शस्त्र धारण करता है और शांति-काल में पासा। ये उसके क्षत्रियत्व के लक्षण हो गए हैं। इसलिए

अपने स्वाभिमान, अपने गौरवकी रक्षा के लिए युधिष्ठिर इस निमंत्रण का तिरस्कार नहीं करेंगे। इस निमंत्रण के तिरस्कार से पांडवराज समाज में तिरस्कृत हो जाएंगे। बैसे भी एक मैत्रीपूर्ण खेल के निमंत्रण को युधिष्ठिर कैसे अस्वीकार करेंगे। पर यदि यह झूत हुआ तो जानते हो परिणाम क्या होगा ?” कृष्ण ने पुनः सुदामा की ओर देखा।

“नहीं !” सुदामा बोले।

“पहली बात तो यह है कि युधिष्ठिर द्रकुनि के कपट के आगे जीत नहीं पाएंगे। दूसरी यह कि यदि युधिष्ठिर जीत गए तो दुर्योधन भगड़ा करेगा जिसकी परिणति युद्ध में होगी और यदि युधिष्ठिर हार गए तो पांडवों का राज्य समाप्त हो जाएगा... जिसका परिणाम अंततः युद्ध होगा। और सबसे बड़ी आशंका मुझे यह है कि दुर्योधन की प्रतिहिंसा को शांत करने और जंबूद्वीप के क्षत्रियों को एक निरर्थक युद्ध से बचाने के लिए युधिष्ठिर कही स्वेच्छा से ही सब कुछ हार न जाएं।” कृष्ण ने अब पूरी तरह उग आए सूर्य की ओर देखा, “मुझे युद्ध, अवश्यंभावी दीख रहा है। दुर्योधन की प्रतिहिंसा इस समाज का नाश करके ही छोड़ेगी।”

युद्ध और झूत की राजनय संस्कृति का यह संसार सुदामा के लिए सर्वथा अपरिचित था। वे उसके गणित को समझते भी नहीं थे; इसलिए उसके भविष्यफल की गणना भी वे नहीं कर सकते थे। कृष्ण समझता था, इसलिए वह आसन्न युद्ध को अपनी आंखों से देख रहा था। उसकी चिंता बता रही थी कि निकट भविष्य में अवश्य ही कोई बहुत ही गंभीर घटना घटने जा रही थी...

रथ गुरुकुल के द्वार पर रुक गया।

अब तक जो गुरुकुल सुदामा ने देखे थे, वे प्रायः नगर के बाहर ही हुआ करते थे। यह एक विचित्र गुरुकुल था जो नगर के भीतर था। किंतु गुरुकुल के द्वार के भीतर का सारा वातावरण आर्य गुरुकुलों के ही अनुरूप था। नगर का उससे कोई संपर्क नहीं था। सागरतट पर बसा हुआ यह गुरुकुल, वनों से घिरे गुरुकुलों से भिन्न नहीं था।

मुख्य द्वार से कुलपति के कुटीर तक वे लोग पैदल ही आए।

“भाभी योगीराज !” कुलपति ने उनका स्वागत किया।

सुदामा का ध्यान इस ओर गए बिना नहीं रहा कि कुलपति ने कृष्ण को प्रशासन संबंधी किसी उपाधि से न पुकार 'योगीराज' कहा है। और बाबा ने ठीक ही कहा था कि कृष्ण के आने पर कुलपति ने ऐसा व्यवहार नहीं किया था, जैसा कि आश्रम के स्वामी के आने पर किया जाना चाहिए था।

"आर्य !" कृष्ण बोले, "ये मेरे मित्र हैं, सुदामा। विकट दार्शनिक हैं। सोचा, इनकी आपसे भेंट हो जाए। दर्शनाचार्य सुखदेव से भी मिल लें।"

कुलपति ने उठने में तनिक भी विलंब नहीं किया, "चलो योगीराज !"

सुदामा को आश्रम का वातावरण और कृष्ण तथा कुलपति का व्यवहार समारोहशून्य तथा अनौपचारिक लगा। कोई और गुरुकुल होता तो पहले कृष्ण की आरती उतारी गई होती और फिर कुलपति ने दर्शनाचार्य को बुलाने के लिए अपने ग्रहणचारी दौड़ाए होते और तब दर्शनाचार्य के दर्शन होते... पता नहीं यह कृष्ण का प्रभाव था या..."

वे लोग दर्शनाचार्य सुखदेव के कुटीर में आए। उनके कुटीर में एक व्यक्ति पहले से बैठा था। सुदामा ने पहचाना : यह उन्हींका प्रामवासी और उनका पड़ोसी, भृगुदास था। भृगुदास उन्हें आचार्य ज्ञानेश्वर के भाषण के अवसर पर मिला था। उसने शायद कहा था कि वह अगले दिन द्वारका जा रहा है। पर आज भृगुदास जैसे उन्हें पहचान ही नहीं रहा था।

आगतुको को देख, वे दोनों उठकर सम्मानपूर्वक खड़े हो गए।

"बैठो घंत्स !" कुलपति ने कहा।

और फिर कृष्ण ने सुदामा के कंधे को अपनी भुजाओं में भर कर, उनका परिचय दिया।

सुदामा की दृष्टि दर्शनाचार्य से अधिक भृगुदास पर टिकी। वह विचित्र स्थिति में था। उसकी दृष्टि कभी कृष्ण पर रुकती थी, और कभी सुदामा पर। कभी उसके चेहरे पर ऐसे भाव आते, जैसे वह स्वर्ग में पहुँच गया है और कभी लगता, जैसे उसने कोई प्रेत देख लिया है।

सब बैठ गए तो दर्शनाचार्य ने फुसफुसाकर कहा, "तुम अब चलो भृगुदास। अवकाश के समय आना।"

"क्या कर रहे है आचार्य !" कृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "हमारे आने

के कारण अपने अतिथि को भगाए दे रहे हैं। हम तो थोड़ी देर में चले ही जाएंगे।”

दर्शनाचार्य ने कुछ कहा नहीं। भृगुदास की ओर देखा भर; पर वह दृष्टि साफ-साफ कह रही थी कि 'भृगुदास ! तुम खिसक ही जाओ तो अच्छा है।' पर भृगुदास दृष्टि की भाषा समझ नहीं पा रहा था। उसे तो जैसे काठ मार गया था।

“आप कब आए सुदामाजी ?” दर्शनाचार्य ने अत्यन्त विनीत भाव से पूछा।

“कल संध्या समय द्वारका पहुंचा हूँ।” सुदामा ने धीरे से कहा।

“और टिके कहां हैं ?”

“टिके कहां !” कृष्ण ने सुदामा को बोलने नहीं दिया, “द्वारका में सिवाय मेरे, उद्धव और बलराम भैया के सुदामा का ही ही कौन... ग्रंथ, पोथियां और सिद्धांत।” इस समय कृष्ण इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर की चिंताओं से सर्वथा मुक्त थे।

“जिसके मित्र आप हैं,” दर्शनाचार्य ने अपने स्वर में, जैसे अपनी आत्मा को उकल दिया, “उसे किसी ओर की मंत्री का करना ही क्या है।”

“सुदामा ! इनसे सावधान रहना।” कृष्ण - अपने उन्मुक्त और उत्फुल्ल स्वर में बोले, “हमारे दर्शनाचार्य, चाटुकारिताचार्य भी हैं।”

दर्शनाचार्य ने हंसकर इस सत्य को निगल लिया। कुछ बोले नहीं।

“वत्स सुदामा !” सहसा कुलपति बोले, “हमारे वासुदेव, बहुधा तुम्हारी चर्चा करते हैं। आज तुम्हारे सामने एक प्रश्न रखना चाहता हूँ।”

“कहिए आर्य कुलपति !”

“अध्यात्म व्यक्तिवादी चिंतन है अथवा सामाजिक ?”

सुदामा ने क्षण भर कुलपति को देखा : यह व्यक्ति घूर्ततापूर्वक उनकी परीक्षा लेना चाहता है या सचमुच एक संवाद स्थापित करना चाहता है ? इस व्यक्ति के विषय में बाबा की राय अच्छी नहीं थी, पर वह बाबा का पूर्वाग्रह भी ही सकता है।... कुलपति के निर्विकार चेहरे से सुदामा कुछ भी समझ नहीं पाए; किंतु कृष्ण के चेहरे की आश्वस्ति कह रही थी कि उनकी उपस्थिति में सुदामा के लिए आशंका का कोई कारण नहीं है...



विद्वानों की आपसी ईर्ष्याग्नि का भी नहीं।

“मेरा विचार है, अध्यात्म और वैराग्य में थोड़ा अंतर करना चाहिए, सुदामा बोले, “वैराग्य व्यक्तिवादी चिंतन है। व्यक्ति किन्हीं कारणों से इस संसार से ऊब जाए या थक जाए तो वह उपलब्ध सुविधाओं, सुखों और भोगों का भी उपभोग नहीं करता। वह स्वयं को वंचित रखता है और वंचित रखना चाहता है। सुविधाओं का उचित भोग करने वाले लोगों को वह भ्रमित मानता है।”

“और अध्यात्म ?” कुलपति ने पूछा।

“अध्यात्म मेरी दृष्टि में सामाजिक चिंतन है।” सुदामा बोले, “सामूहिक जीवन का चिंतन। आध्यात्मिक जीवन स्वयं को वंचित नहीं, वितरित करता है। इच्छा, कामना अथवा आसक्ति से विच्छिन्न कर, विवेकपूर्वक यह सोचना सिखाता है कि सृष्टि में जो कुछ उपलब्ध है, वह किसी एक के लिए नहीं, सबके लिए है। परिणामतः प्रतिक्षण सचेत रहना पड़ता है कि हम संचय न करें, क्योंकि एक द्वारा संचय, दूसरे को वंचित करता है।” सुदामा ने रुककर एक दृष्टि डाली, “यदि मेरे मन में वैराग्य का स्थान मिलेगा तो मैं अपनी पत्नी और बच्चों को त्याग दूंगा, क्योंकि वे मुझसे अपेक्षा करते हैं कि मैं अपने और उनके जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धनोपार्जन करूं। वैराग्य के अनुसार धन, माया है, मोह है, आसक्ति है। इस प्रकार, मेरी पत्नी और मेरे बच्चे, मुझे मोह में आसक्त कर रहे हैं। किंतु अध्यात्म के अनुसार, मुझे उनका पालन-पोषण करना है। धन और भोग मेरा लक्ष्य नहीं है—पर भरण-पोषण भर के लिए अर्जन करना मेरा धर्म है।”

“आर्थ सुदामा ठीक कह रहे हैं।” दर्शनाचार्य तत्काल सहमत हो गए।

“इस दृष्टि से वैराग्य समाज के लिए...” कुलपति ने कहा।

व्यक्ति यह कहता है कि यह संसार मुझे पसंद नहीं है, इसलिए मैं इसे छोड़ता हूँ। किंतु वैरागी यह कहता है कि संसार व्यर्थ है, किंतु मैं अपने जीवन को धारण किए रहूंगा। मैं जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए श्रम नहीं करूंगा; किंतु मुझे अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी वस्तुएं उपलब्ध होनी चाहिए। मैं घन अर्जित नहीं करूंगा, उसे अपने पास नहीं रखूंगा; किंतु विभिन्न कार्यों की पूर्ति के लिए घनाढ्य लोगों के द्वारों के चक्कर लगाऊंगा।

“पर हमारे श्रुति भी तो संन्यासी हैं।” दर्शनाचार्य ने धीरे से कहा।  
 “उस दृष्टि से तो आप भी संन्यासी हैं। मुदामा भी संन्यासी हैं।”  
 कृष्ण बोले, “जो घनार्जन की स्पर्धा में से अलग होकर, अपनी आवश्यकता भर अर्जन कर सामाजिक कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं।... हमारा कोई श्रुति जीवन को माया मान उससे विलग होकर नहीं बैठा।”  
 कृष्ण कुछ क्षणों के लिए जैसे कहीं खो गए, “अब देखो, प्रत्येक जीव में अपने प्राणों के प्रति कैसी भ्रमता है। कैसा भी निकृष्ट जीव क्यों न हो, कितनी भी शारीरिक असमर्थता उसमें हो, कैसी भी विकट परिस्थितियों में कारा न हो... वह मरना चाहता है क्या?”

“नहीं।”

“जीवन के प्रति यह भ्रमता उसे प्रकृति ने दी है। प्रकृति चाहती है कि वह जिए, अपने प्राणों की रक्षा करे और जीवन की परंपरा को आगे बढ़ाए। यही कारण है कि मनुष्य से लेकर छोटे-से-छोटा जीव-जन्तु न केवल संतान चाहता है; वरन् उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता है। जीवन के भीतर आत्मरक्षा की भावना, प्रकृति का आदेश है। आत्म-रक्षा का तनिक विस्तार करो तो पाओगे कि अपने जीवन के अधिकारों की रक्षा का भी यही अर्थ है। जीवन का अधिकार भौतिक घरातल पर, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अधिकार है और मानसिक घरातल पर स्वाभिमान, चित्त-मनन की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार इत्यादि—इन सबकी रक्षा भी प्रकृति की इच्छा और आदेश है। ...मैं यहां संचय का मार्ग नहीं दिखा रहा,” कृष्ण का स्वर-भंड हुआ, “क्योंकि संचय का अर्थ है दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित करना।

प्रकृति ने दूसरों को भी जीवन तथा उसकी रक्षा का अधिकार दिया है। संघर्ष, प्रकृति के नियमों का उल्लंघन है। इसलिए मैं कहता हूँ कि अपने जीवन, जीवन की आवश्यकताओं, अपनी स्वतंत्रता और स्वाभिमान के लिए संघर्ष करने वाला, उनके लिए मर मिटने वाला व्यक्ति प्रकृति की आज्ञा का पालन करता है, वह सत्य के मार्ग पर है और बैठा-बैठा, उद्यम और कर्म न करने वाला, बिना हाथ-पैर हिलाए ईश्वर के न्याय को पुकारने वाला व्यक्ति असत्यमार्गी है। प्रकृति के आदेशों का उल्लंघन कर, उसकी सहायता और कृपा पर निर्भर रहने का दंभ करना, स्वयं अपने-आपको धोखा देना है। "....." कृष्ण कुछ संघर्ष करके, जैसे कुछ सोच रहे हों, "यदि दुर्घटन घटने के पड़्यंत्र से पांडवों के अधिकार छीन ले तो पांडवों के सामने दो मार्ग होंगे : तपस्वी वेद में साधना कर, ईश्वर को पुकारते रहे कि वह उनका राज्य कौरवों से उन्हें दिला दे या फिर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करें। ऐसे में उनका धर्म क्या है ?"

"संघर्ष !" सुदामा बोले।

कुंसेपति हंस पड़े, "हमारे वासुदेव और सुदामा एक ही समान सोचते हैं। तभी तो द्वारका के गुरुकुल में शारीरिक व्यायाम तथा वास्त्र-शिक्षा के साथ दर्शन और अध्यात्म का अध्ययन होता है।"

"पर फिर अपरिग्रह की बात क्यों की जाती है ?" दर्शनाचार्य बोले, "त्याग की भावना का गुण क्यों गाया जाता है ?"

"यदि त्याग और अपरिग्रह का सिद्धांत आपको जीवन से दूर ले जाता है, यदि आपके समाज को दुर्बल करता है," सुदामा अपने शांत स्वर में बोले, "तो वह व्यर्थ है। वह किसी समाज को स्वीकार्य नहीं होगा। समाज

जीवन । जितना भी चिंतन होता है, वह इसी जीवन को अधिक विवेकपूर्ण, समृद्ध, सुविधापूर्ण और सम्मानजनक बनाने के लिए होता है । किंतु, जीवन का तात्पर्य एक व्यक्ति का जीवन नहीं, सारी मानवता का जीवन है; और यदि हम उसके परे भी सोच सकें तो सारी सृष्टि का जीवन है । इसलिए किसी एक व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की समृद्धि से, जीवन समृद्ध नहीं होगा । जीवन समृद्ध होगा, समस्त मानवता की समृद्धि से । जब तक मनुष्य के पास संपत्ति की कमी थी, तब तक त्याग का चिंतन किया गया; किंतु अब, जब मनुष्य के परिश्रम और ज्ञान से संपत्ति बढ़ गई है, समस्त दार्शनिक और चिंतक, उसके वितरण की बात कर रहे हैं ।”

कृष्ण ने हककर कुलपति की ओर देखा, “मैंने यादवों से सदा यही कहा है कि परिश्रम कर उत्पादन बढ़ाओ, संपत्ति बढ़ाओ और उसका न्यायपूर्ण वितरण करो । न्यायपूर्ण वितरण नहीं होगा, तो विरोध और वैमनस्य होगा । परिणामतः युद्ध और विनाश होगा । इसीलिए कहता हूँ कि युद्धों के विनाश से मानवता को बचाना है तो संपत्ति का न्यायपूर्ण वितरण करो । व्यक्ति और व्यक्ति में तथा समाज और समाज में अन्यायपूर्ण, विषम संचय ने सदा ही युद्धों का जन्म देकर, मानवता को विनाश के मुख में धकेला है ।”

कृष्ण मौन हो गए । अन्य लोगों में से भी कोई नहीं बोला ।

अंत में कुलपति ही बोले, “वामुदेव ! आपका यह संतुलन का ही सिद्धांत है । अभाव और परिग्रह दो छोर हैं । आप इन दोनों का संतुलन करना चाहते हैं ।”

“हां !” कृष्ण खिलखिलाकर हंस पड़े, “सुदामा, वे संतुलन के इस सिद्धांत को समझा होता तो इतना अभावपूर्ण जीवन न बीते ।” उन्होंने खड़े हो, सुदामा की बांह पकड़, उन्हें उठाया, “अच्छा आर्य कुलपति ! अब हमें अनुमति दीजिए । सुदामा को दो-एक स्थान दिखाकर जल्दी घर लौटा ले जाना है । घर पर हमारी इतीक्षा हो रही होगी । हम बिना किसी को सूचना दिए ही, अदृश्य हो गए हैं ।”

“यह तो कोई बात न हुई ।” कुलपति बोले, “इस प्रकार तो सुदामा के आगमन से गुरुकुल को कोई लाभ न होगा ।”

“भाई ! तुम मुझे और उत्तमाओ मत । मेरे पास अपनी ही उत्तम बहूत हैं ।”

मुद्रामा ने कृष्ण की ओर देखकर मुस्कराने का प्रयत्न किया ।

कृष्ण धोड़ी देर तक मौन कुछ सोचते रहे, फिर धीरे से बोले, “इस सृष्टि को देखो । कितनी व्यवस्था है इसमें, कितनी नियम-बद्धता और कितना प्रगाढ़ अनुशासन । क्या तुम्हें कहीं कोई अपवाद दिखाई देता है ?”

“अपवाद !” मुद्रामा बोले, “अपवाद ही अपवाद हैं । कभी बर्षा होती है और कभी नहीं होती । कभी सूखा पड़ता है और कभी बाढ़ आ जाती है । वर्षों तक शांत नूनि कभी डोलने लगती है और बड़े पर्वत आग उगमने लगते हैं । ये सब अपवाद नहीं हैं क्या ?”

कृष्ण मुस्कराए, “तुमने माना है कि नियम यह है कि वर्षा ऋतु में आकाश पर बादल छाएँगे, मेघ गरजेँगे, बिजली चमकेगी; और वर्षा होगी । गरम ऋतु में आकाश निर्मल रहेगा । वर्षा नहीं होगी । जब कभी वर्षा ऋतु में वर्षा नहीं हुई और गरम ऋतु में वर्षा हो गई, तुमने मत लिया कि प्रकृति का नियम गलत हो गया ।”

“हाँ !” मुद्रामा ने सहनति प्रकट की ।

“किंतु नियम तो यह नहीं है ।” कृष्ण पुनः मुस्कराए, “नेत्र तुम्हारी ऋतुओं की दृष्टि को देखकर तो वर्षा नहीं करते । नियम यह है कि सूर्य का ताप सागर के जल को वाष्प में बदलेगा । वह वाष्प पर्वत, बन प्रमदा किसी अन्य बाधा से जल, हिम अथवा धीमे बनकर बरसेगा । यदि वाष्प को वातु किसी और दिशा में बहा ले गई; अथवा वाष्प बनने अथवा

जीवन। जितना भी चितन होता है, वह इसी जीवन को अधिक विवेकपूर्ण, समृद्ध, सुविधापूर्ण और सम्मानजनक बनाने के लिए होता है। किंतु, जीवन का तात्पर्य एक व्यक्ति का जीवन नहीं, सारी मानवता का जीवन है; और यदि हम उसके परे भी मोक्ष सकें तो सारी मृष्टि का जीवन है। इसलिए किसी एक व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की समृद्धि से, जीवन समृद्ध नहीं होगा। जीवन समृद्ध होगा, समस्त मानवता की समृद्धि से। जब तक मनुष्य के पास संपत्ति की कमी थी, तब तक त्याग का चितन किया गया; किंतु अब, जब मनुष्य के परिश्रम और ज्ञान से संपत्ति बढ़ गई है, समस्त दार्शनिक और चिंतक, उसके वितरण की बात कर रहे हैं।”

कृष्ण ने दृढ़कर कुलपति की ओर देखा, “मैंने यादों से सदा यही कहा है कि परिश्रम कर उत्पादन बढ़ाओ, संपत्ति बढ़ाओ और उसका न्यायपूर्ण वितरण करो। न्यायपूर्ण वितरण नहीं होगा, तो विरोध और वैमनस्य होगा। परिणामतः युद्ध और विनाश होगा। इसीलिए कहता हूँ कि युद्धों के विनाश से मानवता को बचाना है तो संपत्ति का न्यायपूर्ण वितरण करो। व्यक्ति और व्यक्ति में तथा समाज और समाज में अन्यायपूर्ण, विषम संचय ने सदा ही युद्धों को जन्म देकर, मानवता को विनाश के मुख में धकेला है।”

कृष्ण मौन हो गए। अन्य लोगो में से भी कोई नहीं बोला।

अंत में कुलपति ही बोले, “वामुदेव! आपका यह संतुलन का ही सिद्धांत है। अभाव और परिग्रह दो छोर हैं। आप इन दोनों का संतुलन करना चाहते हैं।”

“हां!” कृष्ण खिलखिनाकर हंस पड़े, “मुदामा ने संतुलन के इस सिद्धांत को समझा होता तो इतना अभावपूर्ण जीवन न जीते।” उन्होंने लड़े ही, मुदामा की बांह पकड़, उन्हें उठाया, “अच्छा आर्य कुलपति! अब हमें अनुमति दीजिए। मुदामा को दो-एक स्थान दिखाकर जल्दी घर लौटा ले जाना है। घर पर हमारी इतीक्षा हो रही होगी। हम बिना किसी को सूचना दिए ही, अदृश्य हो गए हैं।”

“यह तो कोई बात न हुई।” कुलपति बोले, “इस प्रकार तो मुदामा के आगमन से गुरुकुल को कोई लाभ न होगा।”

प्रकृति ने दूसरों को भी जीवन तथा उसकी रक्षा का अधिकार दिया है। संघर्ष, प्रकृति के नियमों का उल्लंघन है। इसलिए मैं कहता हूँ कि अपने जीवन, जीवन की आवश्यकताओं, अपनी स्वतंत्रता और स्वाभिमान के लिए संघर्ष करने वाला, उनके लिए मर मिटने वाला व्यक्ति प्रकृति की आज्ञा का पालन करता है, वह सत्य के मार्ग पर है और बैठा-बैठा, उद्यम और कर्म न करने वाला, बिना हाथ-पैर हिलाए ईश्वर के न्याय को पुकारने वाला व्यक्ति असत्यमार्गी है। प्रकृति के आदेशों का उल्लंघन कर, उसकी सहायता और कृपा पर निर्भर रहने का दंड करना, स्वयं अपने-आपको धोखा देना है। "....." कृष्ण कुछ क्षण रुके, जैसे कुछ सोच रहे हों, "यदि दुर्घोषन छूत के पट्टयंत्र से पांडवों के अधिकार छीन ले तो पांडवों के सामने दो मार्ग होंगे : तपस्वी वेद में साधना कर, ईश्वर को पुकारते रहें कि वह उनका राज्य कौरवों से उन्हें दिला दे या फिर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करें। ऐसे में उनका धर्म क्या है?"

"संघर्ष!" सुदामा बोले।

कुलपति हंस पड़े, "हमारे वासुदेव और सुदामा एक ही समान सोचते हैं। तभी तो द्वारका के गुरुकुल में शारीरिक व्यायाम तथा शस्त्र-शिक्षा के साथ धर्म और अध्यात्म का अध्ययन होता है।"

"पर फिर अपरिग्रह की बात क्यों की जाती है?" बर्षनाचार्य बोले, "स्याग की भावना का गुण क्यों गाया जाता है?"

"यदि स्याग और अपरिग्रह का सिद्धांत आपको जीवन से दूर ले जाता है, यदि आपके समाज को दुर्बल करता है," सुदामा अपने शांत स्वर में बोले, "तो वह व्यर्थ है। वह किसी समाज को स्वीकार्य नहीं होगा। समाज उसी चिंतन को ग्रहण करता है, जो उसे अधिक समर्थ बनाता है। इसलिए आप अनेक स्थानों पर देखेंगे, लोग सिद्धांततः तो एक आदर्श को स्वीकार करते हैं, उसकी पूजा करते हैं, उसे नमन करते हैं; किंतु जीवन के व्यवहार में उसे कभी ग्रहण नहीं करते। समाज को ऐसे आदर्श क्यों दिए जाते हैं, जो सुनने में अच्छे लगें, किंतु जीवन में उनका महत्त्व चाहाडंबर अथवा शीशों की वस्तु से अधिक न हो?"

"यही तो मैं कहता हूँ।" कृष्ण बोले, "सबसे महत्त्वपूर्ण है—यह

जीवन। जितना भी चिंतन होजा है, वह इसी जीवन को अधिक विवेकपूर्ण, समृद्ध, सुविधापूर्ण और सम्मानजनक बनाने के लिए होता है। किंतु, जीवन का तात्पर्य एक व्यक्ति का जीवन नहीं, सारी मानवता का जीवन है; और यदि हम उसके परे भी सोच सकें तो सारी सृष्टि का जीवन है। इसलिए किसी एक व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की समृद्धि से, जीवन समृद्ध नहीं होगा। जीवन समृद्ध होगा, समस्त मानवता की समृद्धि से। जब तक मनुष्य के पास संपत्ति की कमी थी, तब तक त्याग का चिंतन किया गया; किंतु अब, जब मनुष्य के परिश्रम और ज्ञान से संपत्ति बढ़ गई है, समस्त दार्शनिक और चिंतक, उसके वितरण की बात कर रहे हैं।”

कृष्ण ने रुककर कुलपति की ओर देखा, “मैंने यादवों से सदा यही कहा है कि परिश्रम कर उत्पादन बढ़ाओ, संपत्ति बढ़ाओ और उसका न्यायपूर्ण वितरण करो। न्यायपूर्ण वितरण नहीं होगा, तो विरोध और वैमनस्य होगा। परिणामतः युद्ध और विनाश होगा। इसीलिए कहता हूँ कि युद्धों के विनाश से मानवता को बचाना है तो संपत्ति का न्यायपूर्ण वितरण करो। व्यक्ति और व्यक्ति में तथा समाज और समाज में अन्वयपूर्ण, विषम संचय ने सदा ही युद्धों को जन्म देकर, मानवता को विनाश के मुख में धकेला है।”

कृष्ण मौन हो गए। अन्य लोगों में से भी कोई नहीं बोला। अंत में कुलपति ही बोले, “वासुदेव ! आपका यह संतुलन का ही सिद्धांत है। अभाव और परिग्रह दो छोर हैं। आप इन दोनों का संतुलन करना चाहते हैं।”

“हां !” कृष्ण खिलखिलाकर हंस पड़े, “सुदामा ने संतुलन के इस सिद्धांत को समझा होता तो इतना अभावपूर्ण जीवन न जीते।” उन्होने झड़े हो, सुदामा की बांह पकड़, उन्हें उठाया, “अच्छा आर्य कुलपति ! अब हम अनुमति दीजिए। सुदामा को दो-एक स्थान दिखाकर जल्दी पर लौटा ले जाना है। घर पर हमारी 5 तीसा हो रही होगी। हम बिना किसी को सूचना दिए ही, अदृश्य हो गए हैं।”

“यह तो कोई बात न हुई।” कुलपति बोले, “इस प्रकार तो सुदामा के आगमन से गुरुकुल को कोई लाभ न होगा।”



“हां ! मैं भी यही सोच रहा था ।” दार्शनिकाचार्य बोले, “सुदामा जी को गुरुकुल में कुछ दिन निवास करना चाहिए ।”

‘वह वाद की बात है ।’ कृष्ण मुस्कराए ।

सामूहिक विदाई के बीच, सुदामा ने विशेष रूप से भृगुदास को गले से लगाया, “अच्छा बंधु ! फिर मिलेंगे ।”

पर भृगुदास की जड़ता घायद अभी भी नहीं टूटी थी । वह काठ के लौदे के समान, खड़ा का खड़ा रह गया ।

## दस

गुरुकुल से चलकर कृष्ण का रथ सागरतट पर जा रुका ।

“भूल तो नहीं लगी सुदामा ?”

“नहीं ! अभी तो ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है ।”

“तो आओ, तुम्हें द्वारका के सागरतट का सौन्दर्य दिखाऊँ ।” कृष्ण ने सुदामा का हाथ पकड़कर, उन्हें रथ से नीचे उतारा ।

“भाभी चिंतित तो नहीं होंगी ?” सुदामा ने धीरे से पूछा ।

“तुम बड़े नियमित जीवन के अभ्यस्त हो भाई !” कृष्ण मुक्त कंठ से हंसे, “मैं सारथि वाहुक के हाथ रुक्मिणी को यह संदेश भिजवा आया था कि हमें लौटने में विलंब हो सकता है ।”

सुदामा ने कुछ नहीं कहा । वे कृष्ण का हाथ पकड़े, उनके साथ घिसटते चले जा रहे थे । वे अनुभव कर रहे थे कि कृष्ण उनके समवेयस्क होते हुए भी शारीरिक शक्ति, दमता और ऊर्जा में उनसे बहुत बढ़कर थे । सुदामा ने कभी अपने शरीर की चिंता नहीं की थी; अब उन्हें लग रहा था कि बदले में शरीर ने भी उनकी चिंता नहीं की है । अभी वे यह बात कहें तो कृष्ण कहें दंगे—“यही तो कर्म-सिद्धांत है ।”

कृष्ण ने तट पर बंधी अनेक नौकाओं में से एक खोल ली थी और

उसमें सुदामा को बैठा, स्वयं चप्पू लेकर सामने बैठ गए थे।

नाव चली तो सुदामा ने पूछा, "ये नौकाएं कैसी हैं?"

"ये द्वारका के तट-रक्षकों की नौकाएं हैं।" कृष्ण बोले, "बड़े भैया के श्वसुर राजा कुकुद्भीन ने इन सुंदर सागरतटों की रक्षा की चिंता नहीं की थी, परिणामतः कुसस्थली उनके हाथों से छिन गई थी। पर हम लोग इन तटों की रक्षा की उपेक्षा नहीं कर सकते। द्वारका के यादव व्यापारिक भी हैं और समर-शक्ति सम्पन्न भी।"

"तट तो सचमुच बहुत सुंदर है।" सुदामा की दृष्टि दूर-दूर तक निहार रही थी।

"इधर सारा का सारा तट ही बहुत सुन्दर है," कृष्ण बोले, "पर सुरक्षित नहीं। मुझे भय है कि लोग शीघ्र नहीं चेतें तो निकट भविष्य में ही भयंकर परिणाम होंगे।" कृष्ण का मन जैसे कहीं दूर चला गया था। क्षण भर में ही उनके चेहरे पर गहरी चिंता छा गई थी। उनकी उत्फुल्लता जाने कहाँ धिलीन हो गई थी।

"क्या बात है कृष्ण?" सुदामा, कृष्ण के इस परिवर्तन से चकित हो रहे थे।

"इधर भक्ति की धारा बड़े वेग से बह रही है। लोगों की आस्तिकता में सहसा ही उधार आ गया है।" कृष्ण के होठों पर ध्वंग्य-भरी मुस्कान धिरक रही थी, "भगवान सोमनाथ को मंदिर में स्थापित कर लोगों ने उन्हें अपना संरक्षक मान लिया है। उनका विश्वास है कि किसी भी आक्रमण के समय, स्वयं महादेव उनकी रक्षा करेंगे; अर्थात् अपने शत्रुओं से युद्ध भक्तजन नहीं करेंगे, महादेव करेंगे।"

"नहीं करेंगे क्या?" सुदामा के मुँह से अनायास निकला।

"भक्त अपनी देव-मूर्तियों की रक्षा करते हैं," कृष्ण मुस्कराए, "देव-मूर्तियाँ अपने भक्तों की रक्षा नहीं करती।"

"तुम तो पूरे नास्तिक हो कृष्ण।"

"आस्तिकता-नास्तिकता का प्रश्न अत्यन्त जटिल है मित्र! बड़े से बड़ा आस्तिक भी कहीं नास्तिक होता है और बड़े से बड़ा नास्तिक भी कहीं धीरे आस्तिक होता है।"

“भाई ! गुम मुझे और उनभाओ मग । मेरे पाग मगनी ही उनमने यदुग है ।”

गुदामा ने कृष्ण की ओर देगवर मुस्कराने का प्रयत्न किया ।

कृष्ण थोड़ी देर तक मीन कुछ गोषते रहे, फिर धीरे से बोले, “इस मृष्टि को देखो । कितनी स्वदम्भा है इसमें, कितनी नियम-बद्धता और कितना प्रगाढ़ अनुशासन । क्या तुम्हें पढ़ी बोई अक्काद लिखाई देना है ?”

“अक्काद !” गुदामा बोले, “अक्काद ही अक्काद है । कभी बर्षा होती है और कभी नहीं होती । कभी सूखा पड़ता है और कभी बाढ़ या ज़ांती है । वर्षों तक गात्र मृषि कभी टोपने मगनी है और जड़ पर्यग प्राग उन-मने लगने है । वे मग अक्काद नहीं है क्या ?”

कृष्ण मुस्कराए, “तुमने माना है कि नियम यह है कि वर्षा ऋतु में आकाश पर बाधन छाएंगे, मेघ गरजेंगे, बिजली चमकेगी; और वर्षा होगी । गरद ऋतु में आकाश निर्मोष रहेगा । वर्षा नहीं होगी । जब कभी वर्षा ऋतु में वर्षा नहीं हुई और गरद ऋतु में वर्षा हो गई, तुमने मान लिया कि प्रकृति का नियम मंग हो गया ।”

“हां !” गुदामा ने सहमति प्रकट की ।

“किंतु नियम तो यह नहीं है ।” कृष्ण पुनः मुस्कराए, “मेघ तुम्हारी ऋतुओं की गणना को देगवर तो वर्षा नहीं करते । नियम यह है कि सूर्य का ताप सागर के जल को वाष्प में बदलेगा । वह वाष्प पर्यंत, वन अथवा किसी अन्य वाष्प से जल, हिम अथवा ओने बनकर बरसेगा । यदि वाष्प को वायु किसी ओर दिशा में बहा ले गई; अथवा वाष्प बनने अथवा उसकी वाष्प में विलंब हुआ; अथवा वनों इत्यादि के कट जाने से मेघ वहां रुक नहीं पाए, वर्षा विलंब से हुई, जल्दी हुई अथवा नहीं हुई; सूखा पड़ा या बाढ़ आई तो उसमें नियम-मंग कहा हुआ ?” कृष्ण दाग भर के लिए रुके, “वाष्प बनने, वायु के बहने, वर्षा होने, भूचास के आने, पवासासुसियों के कूटने के अपने निश्चित नियम हैं; किंतु इनमें जो घटना जहां घटती है, उसका कारण वहीं नहीं होता । तुम्हारे गांव में जो वर्षा होती है, उसका कारण असंभ्य योजन दूर स्थित सूर्य तथा सहस्रों योजन दूर सागर में है । जिस वायु के सहारे मेघ यात्रा करते हैं, उसका संबंध

सारी पृथ्वी के भूगोल से है। जिस भूचाल से कोई नगर डोल जाता है उसका संबंध उस नगर से नहीं, पृथ्वी के गर्भ में होने वाली घटनाओं से है। पर्वत की जिस चोटी से लावा फूटता है, उसका निर्माण अनेक योजन नीचे, भूगर्भ के नियमों के अनुसार होता है।” कृष्ण की दृष्टि सुदामा के चेहरे पर ठहर गई, “तुम जब अपवादों की बात करते हो तो इन कारणों का ज्ञान तुम्हें होता है ? इनका विश्लेषण तुम करते हो ?”

“नहीं।”

“तो दोष अपवाद मानने वाली बुद्धि के अज्ञान में है अथवा प्रकृति की व्यवस्था में ?”

“बुद्धि के अज्ञान में।”

“इसीलिए कहता हूँ कि प्रकृति की व्यवस्था पूर्ण है, नियमबद्ध है। मनुष्य उसे न जाने, न समझ पाए तो दोष मनुष्य के अधूरे ज्ञान और सीमित समझ का है। घोर से घोर नास्तिक भी प्रकृति की इस व्यवस्था को मानता है। इसलिए मैं उसे आस्तिक कहता हूँ। उसका व्यवस्था में विश्वास है; और यह व्यवस्था न उसकी बनाई हुई है और न उसके आदेश पर अपना स्वरूप बदलती है। वह प्रकृति के निकट जाता है, उसके स्वरूप को समझता है, उसके नियमों को खोजता है और उनके अनुसार चलता है। वह प्रकृति की इच्छा के अनुकूल स्वयं को ढालता है या अपने अनुकूल नियमों को खोजने का प्रयत्न करता है। वह आस्तिक हुआ या नहीं ?” कृष्ण रुककर मुस्कराए, “जब मैंने इंद्र की पूजा रुकवाई तो अनेक लोगों ने मुझ पर नास्तिक होने का आरोप लगाया, क्योंकि मैं उनके मान्य देवता का विरोध कर रहा था। जैसे ही ईश्वर को स्वयं से पूजक मानने वाला आस्तिक भक्त, स्वयं में उसी परम सत्ता का अंश अनुभव करने के कारण जब स्वयं को परम सत्ता का ही रूप मानने वाले ब्रह्मवादी को नास्तिक मानता है पर जो सब ओर उसी परम सत्ता, उसी एक जीवनी शक्ति को देखता है—क्या वह नास्तिक है ?”

कृष्ण सुदामा की ओर देख रहे थे, जैसे अपने प्रश्न का उत्तर ‘हां’ या ‘ना’ में माग रहे हों; और सुदामा का ध्यान इस सामान्य प्रश्न की ओर त होकर, अपने मन में कृष्ण के संबंध में कुलबुलाते हुए प्रश्न से उलझ रहा

था : पूछें, न पूछें ? पर न पूछने का भी कोई कारण नहीं था। कृष्ण उन मूढ़ आचार्यों में से नहीं था, जो प्रश्नों को अपनी अवज्ञा समझते हैं। और न ही वह कोई सभ्राट था, जिसके सम्मुख राजनीतिक औचित्य-अनौचित्य का विचार कर चुप रह जाने की आवश्यकता हो। हां ! प्रश्न व्यक्तिगत अवश्य था; पर सुदामा कृष्ण से एक मित्र के रूप में व्यक्तिगत बातचीत ही तो कर रहे थे, “कृष्ण ! तुम पर नास्तिकता का एक यह ही आरोप तो नहीं है।”

“तुमने कोई और भी सुना है ?” संभावित आरोप की अप्रत्याशितता अथवा भयंकरता की आशंका की कोई रेखा कृष्ण के माथे पर नहीं उभरी।

“मुझे दादा ने बताया था कि तुम कभी-कभी इस प्रकार बोलने लगते हो, जैसे तुम स्वयं ही परम सत्ता हो।”

“कौन दादा ?”

“हैं, मेरे एक मूढ़ मित्र,” सुदामा बोले, “फक्कड़ बुद्धिजीवी हैं।”  
कृष्ण कुछ सोचते रहे।

“तुमने बताया नहीं।” सुदामा ने कहा।

“हां ! बोलता तो हूं।” कृष्ण ने गंभीर स्वर में कहा, “तुम अपनी तर्क-पद्धति का विस्तार करो, या अपनी संवेदना का विकास करो। अपनी दृष्टि को साफ करो तो तुम भी पाओगे कि तुम इस सृष्टि से पृथक् नहीं हो। इसी सृष्टि का एक अंग हो तुम, इसी व्यवस्था का अंग हो। जब समझ लोगे कि तुम इस व्यवस्था से तनिक भी भिन्न हो न पृथक्, तो तुम भी इस प्रकृति के साथ पूर्ण सादात्म्य का अनुभव करोगे। प्रकृति तुम्हारे भीतर होगी और तुम प्रकृति के भीतर। प्रकृति की इस व्यवस्था से पूर्णतः एकाकार होने के समय में जो कुछ तुम कहोगे, वह वस्तुतः तुम नहीं कह रहे, वह प्रकृति कह रही है। तुम अपनी ओर से नहीं बोल रहे, प्रकृति और उसकी व्यवस्था की ओर से बोल रहे हो। ऐसे समय में तुम्हारे तर्क और तुम्हारे वचन, प्रकृति के तर्क और वचन हैं।”

“मैंने सुना है कि तुम कहते हो कि मनुष्य केवल कर्म करे और फल तुम पर छोड़ दे—फल का अधिकार उसे नहीं, तुम्हें है।” सुदामा के स्वर

में आश्चर्य था ।

“हां !” कृष्ण की आंखों की गंभीरता और गहन हो आई । उनके स्वर में मानो मेघों का मंद्र गर्जन उतर आया था, “मैंने यह अनुभव कर लिया है सुदामा ! कि यद्यपि व्यक्ति के भीतर वही जीवनी शक्ति है जो स्वयं सृष्टि अथवा प्रकृति है; किन्तु जब शेष सृष्टि से स्वयं को काट, एक व्यक्ति अपने अहंकार को सब मान, स्वयं को पूर्ण समझ, अपने-आपको कर्ता घोषित करता है, तो वह एक भ्रम पालता है । सृष्टि तो अत्यन्त विशाल और विराट है । असंख्य ब्रह्मांडों में से एक ब्रह्मांड के एक ग्रह के एक देश का एक साधारण व्यक्ति कर्ता होता है क्या ! सृष्टि में यह जीवनी शक्ति या संजीवनी, असंख्य रूपों में असंख्य दिशाओं और घरातलों पर कार्य कर रही है । व्यक्ति या समाज जब कोई कार्य करता है तो उस समय व्यवस्था के कार्य-कारण सम्बन्ध के बीच बंधकर ही करता है और वह जो कुछ करता है, वह शृंखला की कड़ी के रूप में ही करता है...उसके पहले की कड़ियां...उसका इतिहास...उससे वह कार्य करवाता है । इस समय व्यवस्था से भिन्न, पृथक और स्वतन्त्र वह नहीं है । इसलिए मैं कहता हूँ कि अपने भीतर की संजीवनी की धारा को व्यापक प्रकृति की संजीवनी से एकाकार कर दो और स्वयं को कार्य का कर्ता मानने का भ्रमित अहंकार मत पालो । समग्रता से कटकर-व्यक्ति-संजीवनी केवल सड़ सकती है, ढंग का कोई कार्य नहीं कर सकती...”

“कर्म का फल...” सुदामा ने बात काटी ।

कृष्ण ने अपनी हथेली उठाकर उन्हें रोका और बोले, “फल की बात भी इसी के अन्तर्गत आती है । व्यक्ति का कर्म निर्विघ्न शून्य में नहीं होता कि उससे वह, इच्छित समय में, अपनी इच्छानुसार फल पा ले । व्यक्ति का कर्म एक अत्यन्त जटिल तथा सुनिश्चित व्यवस्था के भीतर होता है । कर्म किया जाता है तो इस व्यवस्था के सागर में एक छोटी-सी लहर उठाने जाती है । वह लहर अन्य किन लहरों को आंदोलित करेगी, किन तटों तक किन-किन रूपों में पहुंचेगी । यह तुम नहीं जानते हो । इसलिए मैं उस व्यवस्था के सत्य की ओर से फल का आश्वासन देता हूँ ।” :

“पर तुम...”

“हां! मैं प्रकृति-रूप होकर आश्वासन देता हूँ। मैं उस व्यवस्था की ओर से कहता हूँ, व्यक्ति का कर्म असंख्य, अकल्पनीय संभावनाओं को संजोए हुए है। जब किसी एक समाज की संजीवनी शक्ति एक ही घरातल और एक ही दिशा में काम करने लगती है तो वह चमत्कार कर डालती है। इसलिए व्यक्ति केवल कर्म में विश्वास करे। उसे अपनी सीमित दृष्टि से देखकर उसके फल को सीमित न करे। फल को वह प्रकृति की व्यवस्था पर छोड़ दे...”

“बात उलभती जा रही है कृष्ण!” सुदामा बोले, “कर्म की शक्ति तो काम करेगी ही। फायदा फल होगा ही। फिर फल की इच्छा-अनिच्छा से क्या अन्तर पड़ जाएगा?”

“फल की इच्छा, कर्म को संकुचित तथा फल को सीमित करती है।”

“कैसे?”

कृष्ण की आँखों का भाव कुछ ऐसा था, जैसे वे अपने सामने बैठे सुदामा को नहीं देख रहे, उनके आर-पार शून्य में देख रहे हैं। उन्होंने नाव को मोड़ कर, एक एकांत स्थान पर रोक लिया और बोले, “सुदामा! द्वारका के गुरुकुल को तुमने देखा है। उसमें विभिन्न विद्वानों और आचार्यों की नियुक्ति, एक निश्चित वृत्ति पर विद्यार्थियों के अध्यापन के लिए की गई। जो भी आचार्य, विद्वान्, अध्यापक नियुक्त हुए, वे सब फल की आशा लेकर ही वहाँ आए थे। उनकी वृत्ति उनके अध्यापन-कर्म का फल है। उस फल की कामना ही उनसे कर्म करवा रही है। अब एक अध्यापक ने सोचना आरम्भ किया: भुम्हे एक निश्चित वृत्ति तो मिलेगी ही, अब मैं चाहे परिश्रम करके पढ़ाऊँ, या बिना परिश्रम किए। यदि अधिक परिश्रम करूँगा तो कौन मेरी वृत्ति बढ़ जाएगी; और परिश्रम नहीं करूँगा तो मेरी वृत्ति कटेगी नहीं। परिणामतः उसने पढ़ना-लिखना बन्द कर दिया। अपनी कुटिया में पढ़ा-पढ़ा सोता रहता या कोई और कार्य करता रहता। जब छात्रों को पढ़ाने का समय आता तो उठकर बैसे ही चल देता और जो और जैसा बन पड़ता, पढ़ा कर चला आता। कुछ दिनों में उसे लगने लगा कि पूरा समय पढ़ाना भी क्यों आवश्यक है। निर्धारित समय तक नहीं पढ़ाएगा तो कौन उनकी वृत्ति काट लेगा; पूरा समय पढ़ाएगा तो कौन

वृत्ति बढा रहा है। परिणामतः वह अपना काम देर से आरम्भ करता और जल्दी समाप्त कर देता। क्रमशः उसका अध्यापन का अभ्यास छूटने लगा और उसे अपने कार्य से अरुचि होने लगी। कार्य के प्रति उसकी अरुचि देखकर छात्र उससे अप्रसन्न रहने लगे। अध्ययन का क्रम टूट जाने के कारण वह उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करने में असमर्थ रहने लगा। अध्यापन उसे पहाड़-सा लगने लगा। छात्रों में उसकी अपकीर्ति फैली। छात्रों के मन में उसका सम्मान क्षीण होने लगा। कुछ छात्र उससे उद्दंड व्यवहार करने लगे और एक दिन उन्होंने उसका प्रकट और सार्वजनिक अपमान कर दिया...।” कृष्ण ने रुककर सुदामा को देखा। सुदामा बड़े मनोयोग से उनकी बातें सुन रहे थे, “किन्तु, वही एक दूसरा अध्यापक भी था,” कृष्ण पुनः बोले, “जिसने अपनी नियुक्ति के पश्चात् सोचा कि वृत्ति तो उसे अब मिलनी ही है। आजीविका की ओर से उसे चिन्ता नहीं है। क्यों न वह अब अपना कार्य परिश्रम से करे। वह पूरे मनोयोग से अध्ययन करता रहा। उसका ज्ञान प्रतिदिन बढता रहा और उसने देखा कि अपने शिष्यों को पढाना, उसके लिए तनिक भी कठिन नहीं है। वह शिष्यों को, उनकी अपेक्षा से अधिक ज्ञान बड़ी सरलता से दे सकता है। काम में मन लगाने से, उसे उसमें रस आने लगा। वह हर समय, हर स्थान पर छात्रों का कार्य करने के लिए तत्पर था। छात्रों में वह अधिक से अधिक रुचि लेने लगा। छात्रों को वह अपना हितैषी लगा, अपना गुरु और मार्ग-दर्शक लगा। उसके मन में उनका सम्मान बहुत बढ गया। उसका यश फैला। उस यश के परिणामस्वरूप उसे ऊंचा पद मिला और जिस धन की उसने अधिक आकांक्षा नहीं की थी, वह धन भी मिला।” कृष्ण ने फिर एक बार रुककर सुदामा की ओर देखा, “जिसने फल की कामना की, उसे उतना ही अथवा उससे भी कम मिला तथा उसने अपना क्षय किया; और जिसने फल की कामना नहीं की, उसे ज्ञान भी मिला, सम्मान भी, यश भी और धन भी।”

“कृष्ण ! तुम्हारा यह विश्लेषण तो बच्चों के लिए एक उपदेशात्मक कथा है, जिसमें यह बताया गया है कि परिश्रम करने से उसका सुफल मिलता है और परिश्रम नहीं करने से अन्त में हानि होती है। आदर्श लोक



के लिए तुम्हारी क्या ठीक है; किन्तु जीवन की सच्चाई यह नहीं है।" सुदामा के स्वर में हल्का-सा आवेश था।

कृष्ण मुस्कराए, "जीवन की सच्चाई क्या है सुदामा?"

"जो परिश्रम करता है, वह असफल रहता है और जो कामबोरी करता है, वह अन्ततः लाभ में रहता है।" सुदामा का आवेश कम नहीं हुआ।

"तुम्हारे विश्लेषण में कहीं कोई दोष रह गया है सुदामा। क्योंकि कार्य-कारण, क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला में कहीं कोई अपवाद है नहीं। अपवाद हो नहीं सकता। कारण होगा तो कार्य होगा। क्रिया होगी तो प्रतिक्रिया भी होगी ही। कर्म होगा तो फल भी होगा ही।" कृष्ण पूर्णतः शांत थे, "कोई उदाहरण है, तुम्हारे सामने?"

"उदाहरण! उदाहरण मैं हूँ।" सुदामा ने कम ही अपना धैर्य ऐसे छोड़ा था। वे एक पीर अध्ययनशील विद्वान् के स्थान पर धैर्यहीन सांफालु ध्वित हो गए थे, "मैंने सब ओर से अपना मन मारकर, अपने परिवार की उपेक्षा कर, अपना सिर पुस्तकों, ग्रन्थों और विद्वान्तों में गड़ा दिया। यथासंभव मनोयोग और परिश्रम से ज्ञान के क्षेत्र में डटा रहा। पर क्या मिला मुझे? निर्धनता, उपेक्षा, पत्नी और बच्चों का कष्ट देखने की पीड़ा। और जिन्होंने ज्ञान-मार्ग छोड़ दिया, जो चापलूसी और झूठ पर उतर आए; उन्होंने पाया धन और सम्मान, कंचे-कंचे सम्पत्क तथा पद।"

कृष्ण तनिक भी हतप्रभ नहीं हुए। वे मुस्कराए, जैसे कोई व्यक्त, किसी बच्चे की भूल पर मुस्कराता है, "मेरा विचार है कि पहले हम 'कर्म' और 'फल' शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर लें। मुझे लगता है कि उनको समझने में ही कहीं भ्रांति है। मेरे मन में उनका अर्थ कुछ और है और तुम्हारे...।"

"तुम्हारे मन में क्या अर्थ है उनका!" सुदामा की स्वयं ही अपने स्वर में उद्दंडता का आभास हुआ। मन में आई पूरी बात वे कह नहीं पाए; किन्तु कहने के बाद का अनकहा भाव्य उनके भीतर गुंजता बसा गया, 'क्या समझता है कृष्ण! सुदामा को इन शब्दों का अर्थ भी नहीं मालूम! इतना जड़ समझता है वह सुदामा को? शब्दों के अर्थ भी भिन्न होते हैं

ताकि दो व्यक्ति उनके दो अलग-अलग अर्थ समझ बैठें ।’

पर कृष्ण पर सुदामा की उद्वेगता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । वे अपने सहज स्वर में बोलते चले गए, “मुझे लगता है कि तुम ‘कर्म’ का अर्थ एक सम्पूर्ण ‘क्रिया’ या ‘प्रक्रिया’ मान रहे हो, जिसमें पूर्व-चिन्तन, भावना तथा शारीरिक उद्यम सम्मिलित हैं; और फल से तुम्हारा तात्पर्य उस क्रिया या प्रक्रिया के पुरस्कार अथवा दण्ड से है । उसका कारण यह है कि तुमने कार्यों को अच्छे और बुरे के वर्गों में विभाजित कर रखा है और विभिन्न प्रकार के पुरस्कारों या दण्डों को उन कार्यों के साथ जोड़ रखा है, जबकि उन कार्यों और उन फलों में कोई तार्किक संगति नहीं है...”

“मैंने क्या सोच रखा है, इसे छोड़ो और तुम अपनी बात कहो ।” सुदामा के स्वर की भस्लाहट कुछ और मुखर हो आई थी ।

“मेरे लिए ‘कर्म’ एक क्रिया है—पूरी या अधूरी, अंगी या अंग, पूर्ण या खंड । इस दृष्टि से ‘फल’ उस क्रिया की प्रतिक्रिया मात्र है । यह प्रतिक्रिया, प्रकृति के सर्वांगों के अनुसार होती है । प्रकृति की दृष्टि में कर्म ‘अच्छे’ और ‘बुरे’ की सूचियों में बंटे हुए नहीं हैं । इसलिए प्रत्येक क्रिया का परिणाम ‘पुरस्कार’ या ‘दंड’ के रूप में प्रकट नहीं होता—जबकि किसी प्रक्रिया की पूर्णता पर ऐसा हो भी सकता है । सबसे बड़ी बात यह है कि प्रकृति की प्रत्येक क्रिया और प्रतिक्रिया में तर्कसंगत कार्य-कारण सम्बन्ध होता है; जबकि सामान्य व्यक्ति द्वारा सोचे गए कर्म और फल में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता ।”

“मैं थोड़ा असहमत हूँ ।” सुदामा अपेक्षाकृत कुछ शान्त स्वर में बोले, “जड़ पदार्थों में तो तुम्हारे प्रकृति के नियम ठीक चलते होंगे, किन्तु मनुष्यों के साथ...”

“उदाहरण दो ।” कृष्ण बोले ।

“देखो !” सुदामा ने उदाहरण सोचने की मुद्रा बनाई, “हम एक गैँद को एक दीवार पर मारते हैं, तो वह निश्चित रूप से चापस आती है; किन्तु जब किसी मनुष्य के साथ भलाई करते हैं तो आवश्यक नहीं कि वह उसका उत्तर हमारी भलाई से ही दे—वह हमारा भला ही करे । यहाँ क्रिया-प्रतिक्रिया जैसा वैज्ञानिक नियम कहाँ हुआ ?”

कृष्ण हंसे और हंसते चले गए ।

“क्या हुआ ?”

“तुम अपना उदाहरण बदल दो ।” कृष्ण बोले, “जैसे गेंद को दीवार पर मारा है, वैसे ही किसी मनुष्य के गाल पर चाटा मारकर देखो, चांटा लौट कर आता है या नहीं ।”

सुदामा हतप्रभ खड़े रह गए : कृष्ण ठीक ही तो कह रहा था । पर घुराई के नियम भलाई पर लागू नहीं होते क्या ? घुराई क्या अधिक वैज्ञानिक वस्तु है—भलाई वैज्ञानिक नहीं है क्या ?

“क्या सोचने लगे ?” कृष्ण मुस्कराएँ, “यह तो मैंने विनोद में कहा है । तुम तो गम्भीर हो गए ।”

सुदामा कुछ बोले नहीं : चुपचाप कृष्ण को देखते रहे ।

“देखो ! क्रिया-प्रतिक्रिया के वैज्ञानिक नियम में गेंद, दीवार और फेंकना—ये तीन उपकरण हैं । गेंद कीचड़ में मारी जाएगी तो वह लौटेंगी तो नहीं ही, उल्टे हम पर कीचड़ के छीटे पड़ेंगे । दूह में मारोगे तो न लौटेंगी, न छीटे पड़ेंगे ।” कृष्ण ने सुदामा को देखा, वैसे ही यह देखना पड़ेगा कि जिस मनुष्य की भलाई की जा रही है, वह दीवार है, दूह है या कीचड़ है । भलाई की प्रतिक्रिया भी उसी रूप में होगी ।”

“अब तुम अपना उदाहरण लो ।” सुदामा को चुप देखकर कृष्ण पुनः बोले, “तुमने चाहा, ज्ञान और विद्वत्ता । उसीके लिए तुमने परिश्रम भी किया । और आज कोई नहीं कह सकता कि तुम दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों के ज्ञानी और विद्वान् नहीं हो । तुमने धन, सम्पर्क और पद तो चाहा ही नहीं था । उसके लिए तुमने कर्म भी नहीं किया था । तो फिर वह तुम्हें कैसे मिल जाता ।” कृष्ण ने सुदामा पर एक भरपूर दृष्टि डाली, “तुमने सम्पर्क बनाने के लिए क्या किया ? कभी किसीके द्वार पर गए ? कभी किसीकी संगति में अपना समय बिताया ? कभी किसी को प्रसन्न करने के लिए अपनी इच्छा के विरुद्ध, उसकी हां में हां मिलाई ? बीज विद्वता के बीजोंगे और फल तुम सम्पर्क के काटोये ? धन कमाने के लिए क्या किया ? कृषि या व्यापार ? जिन सफल लोगों की चर्चा तुम कर रहे हो, उन लोगों ने न विद्वता और ज्ञान की आकांक्षा की और न उसके लिए

प्रयत्न किया। उन्होंने सदा सम्पर्क, पद और धन के लिए प्रयत्न किया। उन्होंने नाक रगड़ी, समय लगाया, हां में हां मिलाई, आत्मसम्मान छोड़ा, चाटुकारिता की, धन के लिए अपनी थोथी विद्या का व्यापार किया। उन्होंने जिसके लिए प्रयत्न किया, वह पाया; तुमने जो चाहा वह तुम्हें मिला। उन्हें ज्ञान नहीं मिला, तुम्हें धन नहीं मिला। जिसके बीज बोए गए, वही फला। इसमें तुम्हें कहा कर्म-सिद्धान्त कार्य करता दिखाई नहीं पड़ता ?” कृष्ण मोन हो गए।

सुदामा का आवेश कुछ कम हो गया था। कृष्ण जो कह रहे थे, उसमें तर्क था। किंतु, इस तर्क को चुपचाप पचा जाना सुदामा को कठिन लग रहा था “क्योंकि इसका तो अर्थ था कि संसार में जो कुछ हो रहा था, वह ठीक हो रहा था। प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म का फल मिल रहा था। कहीं बेईमानी नहीं थी, कहीं अन्याय और शोषण नहीं था” यह सुदामा कैसे मान जाएं”

“और वह जो निष्काम कर्म का सिद्धान्त है तुम्हारा।” अंत में सुदामा बोले, “तुम्हारी अध्यापकों वाली उस कहानी में, परिश्रम से पढ़ाने वाले अध्यापक को अंत में विद्वता के साथ भ्रम और धन भी मिल जाता है।”

इस बार कृष्ण की भुक्तान प्राणों में समा जाने की शक्ति लेकर उनके अधरों पर धाई, “वह अंत में होता है सुदामा। जब निष्काम उस सीमा पर पहुंच जाता है कि उसका फल किसी तरल पदार्थ के समान, अपने सत्र से बहकर अन्य क्षेत्रों में भी जाने लगता है। उसपर तुम्हारा वश नहीं है। उभी फल के लिए तो कहता हूँ, उसे प्रकृति की व्यवस्था पर छोड़ दो।”

सुदामा के मन में आया, पूछें, तो क्या वे भी यदि अपना कार्य करते रहेंगे तो उन्हें वह सब प्राप्त हो जाएगा ? पर कृष्ण के चेहरे के भावों की उदात्तता से अभिभूत, वे ऐसा स्वार्थ भरा प्रश्न पूछ नहीं पाए। किंतु, विपरीत तर्क अभी शांत नहीं हुए थे। बोले, “एक किसान अपने खेत में हल चलाता है। बीज बोता है। सिंचाई और गोड़ाई करता है। दिन-रात खेतों की रखवाली करता है। पर क्यों नहीं मिलता उसको फल ? क्यों वह निर्धन का निर्धन रह जाता है और दूसरे लोग उसके परिश्रम का

फल पाकर घनी हो जाते हैं ?”

“ऐसे विवाद करते रहोगे तो सागरतट का सौन्दर्य कैसे देखोगे ?”  
कृष्ण मुस्कराए ।

सुदामा को लगा, कृष्ण उनके प्रश्न को टाल रहा है । क्यों ? क्या वह मात्र वायवीय प्रश्नों में ही सुदामा को बहलाए रखना चाहता है ? व्यावहारिक प्रश्नों से कतराना क्या शासन की नीति है ? “पर सुदामा कृष्ण को छोड़ेंगे नहीं ।

“सागरतट के सौन्दर्य को निहारने से कहीं महत्त्वपूर्ण है कि जीवन और समाज की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान कर लिया जाए ।”  
जाने फिर कब तुमसे भेंट हो ।” सुदामा भी मुस्कराए ।

कृष्ण पुनः गंभीर हो गए, “ध्यान से निरीक्षण कर, तथ्यों का विश्लेषण करोगे तो बात स्पष्ट हो जाएगी ।” किसान अपना सारा परिश्रम अधिक उपज के लिए कर रहा है । बताओ, उसके परिश्रम से, उसे अधिक उपज मिली या नहीं ? यदि मिली तो उसके कर्म का फल उसे मिल गया । कर्म-सिद्धांत तो गलत प्रमाणित नहीं होता ।”

“खोल्ले तर्कों में मत उलझाओ कृष्ण ।” सुदामा का स्वर पुनः आक्रोश से भर आया था, “यह तुम भी समझ रहे हो कि मैं क्या कह रहा हूँ । किसान के परिश्रम का फल, केवल उपज का हो जाना नहीं है । उस अन्न के उपजने का लाभ भी उसे होना चाहिए । यदि उस अन्न से धन की प्राप्ति भूस्वामी, व्यापारी अथवा सामंत को होती है तो किसान के श्रम का फल वे भोग रहे हैं । कर्म किसान ने किया है और फल कोई और भोग रहा है । यह कौन-सा कार्य-कारण सम्बन्ध हुआ ? यह कौन-सी तर्क-शृंखला हुई ?”

कृष्ण मुक्त मन और कंठ से खिलखिला कर हंस पड़े । उनकी सारी गंभीरता जाने कहां लुप्त हो गई । इस समय उनके चेहरे पर वही लीला-मय हाथ था जो गुरु सांदीपनि के आश्रम में श्रीशंकर अथवा तर्क के समक्ष, विपक्ष को अपने जाल में फंसते देखकर होता था ।

“तो अब सुदामा भी जीव, ब्रह्म और माया को छोड़, किसान, परिश्रम और फल की बात सोचने लगा । यह बहुत शुभ है सुदामा । बहुत ही शुभ ।

चित्तन का इस ओर बढ़ना, बहुत कल्याणकारी है।" कृष्ण क्षण भर के लिए रुके, "जब सोचने ही लगे ही तो केवल किसान तक ही मत रुको, गोपालों के विषय में भी सोचो, श्रमिकों, जुलाहों, कर्मकरों और अन्य उत्पादकों के लिए भी सोचो; नये प्रयोगों, शोधों, चिन्ताओं तथा अध्ययनों के लिए तपस्वारत ऋषियों-मुनियों, ज्ञानियों-विज्ञानियों के विषय में भी सोचो। घरों में कार्य करती हुई, सबके लिए त्याग, बलिदान और श्रम करती, किन्तु पुरुषों के आधिपत्य में पिसती हुई नारियों के विषय में भी सोचो...।"

सुदामा का आक्रोश चूक गया था। वे सहज होकर बोले, "तुमने तो सोचा होगा। बताओ, तुम्हीं समाधान दो।"

"मैंने कुछ-कुछ तो सोचा ही है। बहुत दिनों से सोचता आया हूँ।" कृष्ण पुनः गंभीर हो गए, "मुझे लगता है कि हमने अभी समग्रता में सोचना नहीं सीखा है। इसी से सत्य हमारी पकड़ में नहीं आता और हम अंधकार में हाथ-पैर मारते रहते हैं...।"

"सत्य क्या है, तुम ही बताओ।" सुदामा बीच में ही बोले।

"बड़े उतावले हो मित्र। सत्य की खोज तो बड़े धैर्य का काम है।" कृष्ण मुस्कराए, "अच्छा चलो, पहले किसान का ही प्रश्न लेते हैं। बात हम यहाँ से आरंभ करते हैं कि एक किसान भूमि को बड़े परिश्रम से खोदता है और बीज बो देता है; किन्तु वर्षा नहीं होती, सूखा पड़ जाता है—या ऐसा ही कुछ और हो जाता है, जिससे बीज सड़ जाते हैं या उपज सूख जाती है और किसान के हाथ कुछ नहीं लगता। ऐसे में तत्काल तुम प्रश्न करोगे कि उसने तो कर्म किया, फिर उसे फल क्यों नहीं मिला?"

"हां! क्यों नहीं पूछूंगा।"

"उत्तर स्पष्ट है कि जो कर्म उसने किया, उसका फल तो उसे मिला; किन्तु, वह समग्र कर्म नहीं था, इसलिए समग्र फल उसे नहीं मिला। संकीर्णता अथवा एकांगिता में किया गया कर्म संकीर्ण और एकांगिक फल ही देगा; क्योंकि प्रकृति तो समग्र, संतुलित तथा जटिल व्यवस्था है। खेती करने वाले किसान के लिए यह जानना आवश्यक है कि कृषि के लिए भूमि की जुताई के साथ सिंचाई की आवश्यकता भी होती है। किन्तु सिंचाई की व्यवस्था, व्यक्ति का नहीं, समाज का काम है। इसलिए,

वहाँ सामाजिक कर्म की आवश्यकता होती है। जो समाज मिलकर अपने विकास के लिए कर्म नहीं करता, उसका व्यक्ति-कर्म भी बहुत फल प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए कृषक समाज के लिए आवश्यक है कि वह कृषि संबंधी ज्ञान प्राप्त करने, कृषि के उपकरणों और सुविधाओं को सुलभ करने के पश्चात् भूमि पर पसीना गिराए-। अन्यथा वह व्यक्ति-कर्म व्यक्ति-फल ही देगा, जिससे समाज लाभान्वित नहीं हो पाएगा। किंतु, जो समाज कृषि संबंधी अनुसंधान करने और उपकरणों को उपलब्ध करने का कर्म पहले कर लेता है और तब उपज के लिए साभूहिक अथवा वैयक्तिक कर्म करता है—वह उसका पूर्ण तथा समग्र फल प्राप्त करता है।” कृष्ण रुके, “और मान लो कि उपज तो हो जाती है खेत लहलहा उठते हैं, या फसल पककर धरती पर सोना बिखेर देती है और तब उसे पशु चर जाते हैं, आग लग जाती है अथवा शत्रु उसे नष्ट कर जाते हैं...तब ?” -

“हां ! तब ?” सुदामा के मुख से, अनायास ही उसी मंगिमा में निकला।

“तब यह समझना होगा कि उपज के लिए जो कर्म किया गया था, उसका फल तो मिला; किंतु उसकी रक्षा के लिए कोई कर्म नहीं किया गया था, इसलिए उस अकर्म का दंड भी मिला। प्रकृति कर्म का फल तत्काल देती है; किंतु अकर्म का दंड भी उसी सीधता से प्रदान करती है। मनुष्य और प्रकृति के इस निरंतर सघर्ष का उदाहरण मैं मैदान और पगडंडी से देता हूँ। जिस पथ पर सैकड़ों लोग प्रतिदिन चलते हैं, वहाँ घास नहीं उगती और पगडंडी बन जाती है। पर मनुष्य के पग रुके और प्रकृति ने उसे अपनी शक्ति का प्रमाण दिया। वहाँ तत्काल घास उगेगी, पौधे और वृक्ष उगेंगे। जीव-जंतु आएंगे। मनुष्य का प्रयत्न रुकते ही तुमने प्रासादों की खंडहर बनते नहीं देखा क्या ? प्रकृति तुरंत बताती है कि कहां अकर्म रह गया है। इसलिए व्यक्तिगत और सामाजिक घरातल पर अपने उत्पादन और सम्पत्ति की रक्षा का प्रयत्न भी करना होगा।” क्षण-भर को कृष्ण रुके, “जब यहाँ तक हो जाए, तब प्रश्न उठता है उपज के उस फल का, जिसके विषय में तुमने प्रश्न किया है सुदामा ! कि उपज किसान की और उसके बदले में धन मिलता है मूस्वामी, सामंत और

व्यापारी को।”

“हां !” मुदामा केवल एक ही शब्द कह सके।

अन्न उपजा लेना एक कार्य है और उसे बेचकर उसके विनिमय में धन प्राप्त करना दूसरा। जैसे ज्ञानार्जन एक कर्म है और उसका व्यापार कर धन कमाना दूसरा। अथवा ये एक समग्र कर्म के दो खंड हैं। किसान ने अन्न उपजाने के लिए कर्म किया तो उसे अन्न मिला; किंतु उसने, उसके विनिमय में धन प्राप्त करने के लिए क्या किया? कुछ भी तो नहीं। व्यापारी, किसान से अन्न खरीदकर दूसरे स्थान पर बेचने का उद्यम करता है। इसलिए उस उद्यम का फल तो उसे मिलेगा ही; किंतु साथ ही उसने एक सामाजिक कार्य भी किया है—संगठन। इस सामाजिक कर्म का फल उसे मिलता है—अपने उद्यम के अनुपात से कहीं अधिक लाभ—जो मानवीय न्याय की किसी भी कसौटी के अनुसार अनुचित है। यह लाभ उसे एक व्यवस्था देती है, जिसे उसने बनाया है और यह लाभ, किसान के असंगठन का शोषण करने के कारण ही संभव है। यहां किसान, या उत्पादक, फिर अपने सामाजिक अकर्म के कारण दंडित होता है। उसने ऐसी व्यवस्था बनाने के लिए, संगठित होकर क्या किया, जो परिश्रम के अनुपात में ही लाभ पाने की अनुमति दे? सामान्यतः लोग अपने वैयक्तिक कर्म में ही व्यस्त रहते हैं और अच्छा समाज तथा अच्छी व्यवस्था बनाने के लिए तनिक भी कार्य नहीं करते। इस प्रकार अपने सामाजिक अकर्म से, एक दुष्ट व्यवस्था बनाने में, प्रकारांतर से सहायक होते हैं; और जब उस अकर्म का दंड उन्हें मिलता है तो उनकी समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों हो रहा है।”

“तो भूस्वामी, सामंत और व्यापारी के असंतुलित लाभ और किसान की बुरी स्थिति के लिए दोषी, उसके सामाजिक अकर्म द्वारा संगठित हो गई भ्रष्ट व्यवस्था है?”

“मैं उसे दोषी नहीं कहता। अपने कर्म-सिद्धांत की शब्दावली में उसे अकर्म का फल कहता हूं।” कृष्ण बोले, “यह व्यवस्था सामाजिक है। उसका स्वरूप निर्भर करता है राजनीतिक व्यवस्था पर। जो समाज राजनीतिक कर्म नहीं करता, अपने लिए अच्छी राजनीतिक व्यवस्था बनाने की



और ध्यान नहीं देता, उसे उस अकर्म का फल मिलता है—भीतरी शोषण और बाहरी शक्तियों के आक्रमण के रूप में। मानव समाज का कोई खंड जड़ हो जाए तो हो जाए, किंतु प्राकृतिक व्यवस्था नहीं रुकती। प्रकृति क्रियाशील है, वह कर्म का तत्काल फल देती है, और अकर्म का दंड।”

“प्राकृतिक व्यवस्था के नहीं रुकने का क्या अर्थ हुआ?” सुदामा आश्चर्यचकित थे। सचमुच उन्होंने इस क्षेत्र में कभी कुछ नहीं सोचा था। कृष्ण ने सिद्धांतों का, सिद्धांतों के रूप में ही अध्ययन नहीं किया, उन्हें सदा जीवन से जोड़ा है, “मनुष्य से अलग होकर, स्वतंत्र रूप से प्राकृतिक व्यवस्था कैसे चलेगी?”

“सृष्टि बहुत बड़ी है, इसलिए प्राकृतिक व्यवस्था भी बहुत विराट है। मानव-समाज उसका एक छोटा-सा अंग है। मनुष्य से अलग होकर मानव-समाज में प्राकृतिक-व्यवस्था नहीं चलती।” कृष्ण बोले, ‘इस सीमित क्षेत्र में सचमुच ही मनुष्य को छोड़कर दूसरा कोई उपकरण उसके पास नहीं है। किंतु, मानव-मात्र भी विभिन्न समाजों में बंटा हुआ है। एक समाज कर्म करता है और उसका फल पाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वह नये आविष्कार करता है, अपना उत्पादन बढ़ाता है, अपनी सामाजिक व्यवस्था ठीक करता है, अपने समाज के सदस्यों में अपने उत्पादनों को यथासंभव समतापूर्वक वितरित करता है। उन्हें समान अधिकार देता है, मानव के हाथों, मानव का शोषण समाप्त करने अथवा कम से कम करने का प्रयत्न करता है।... वह समाज आगे बढ़ता है, शक्तिशाली बनता है।’ कृष्ण प्रवाह में बोलते जा रहे थे, ‘और एक दूसरा समाज होता है, जहां सामाजिक कर्म के स्थान पर वैयक्तिक कर्म चल पकड़ लेता है। यहां निजी स्वार्थ की संकीर्णता प्रधान हो जाती है। अपने निजी स्वार्थ के लिए, व्यक्ति समाज की बड़ी से बड़ी हानि कर देता है। यह यह मूल जाता है कि समाज वह वायुमंडल है, जिसमें उसे भी साँस लेनी है, यह यह कुआँ है, जिसमें से उसे भी पानी पीना है। यह यदि उस वायुमंडल अथवा कुएँ को दूषित करेगा तो वह दूषण, उसके शरीर में भी प्रवेश करेगा; और तब वह स्वयं को बचाने के लिए कुछ नहीं कर पाएगा। ऐसा समाज भीतर से शोषता होता जाता

है। जहाँ सामाजिक कर्म नहीं होता, सामाजिक न्याय नहीं होता, सामाजिक निर्माण नहीं होता वह समाज जड़ हो जाता है। आगे नहीं बढ़ता। वह प्राकृतिक शक्तियों की गति को रोकने लगता है। जब आगे बढ़ने की उसकी भीतरी शक्ति समाप्त हो जाती है और आगे बढ़ने की क्षमता उसमें पूर्णतः नष्ट हो जाती है, तब प्रकृति अपना कार्य करने के लिए ऐतिहासिक शक्तियों से काम लेती है। तब कोई-न-कोई विकसित समाज, बाहर से उस जड़ समाज पर आक्रमण करता है। किसी भी समाज अथवा राज्य पर, बाहरी आक्रमण यदि सफल हो जाता है तो वह पराजित समाज के सामाजिक अकर्म का फल है। विजयी समाज, पराजित समाज पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार करता है, उसका शोषण करता है। उसकी धन-संपत्ति का अपहरण करता है। प्राकृतिक व्यवस्था की ओर से ये सारे प्रयत्न पराजित समाज को चेताने के प्रयत्न हैं। विदेशी, विधर्मी, विजातीय लोगों का अत्याचार पराजित समाज के प्रमाद, अहंकार तथा जड़ता की तोड़ता है और उन्हें प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने का मार्ग दिखाता है, जो प्रकृति की व्यवस्था की मूल प्रेरणा है।”

“किंतु यह तो अत्याचार है कृष्ण।” सुदामा के स्वर में पीड़ा भी थी आक्रांता भी, “प्रकृति—जिसने मनुष्य का निर्माण किया है—इतना अत्याचार क्यों चाहती है ?”

“साधारण रूप में कहूँ, तो इतना ही कहूँगा कि माता-पिता अपनी क्षतान को क्यों पीटते हैं ? युवजन अपने सिप्यों को क्यों दंडित करते हैं ?” कृष्ण सहज भाव से बोले, “और, यदि एक समाज तथा दूसरे समाज से तटस्थ हो जाओ; अपना ममत्व और पक्षपात दूर कर लो तो यह प्राकृतिक व्यवस्था है, शुद्ध व्यवस्था है, शुद्ध सत्यों-नियमों से परिचालित। एक स्थान में शून्य होते ही, दूसरे स्थान से वायु वहाँ पहुँच जाती है। वही स्थिति मानव-समाज की है। एक समाज में अकर्म आते ही, दूसरा कर्मशील समाज वहाँ जा पहुँचता है। और तब तक वहाँ टिका रहता है, जब तक कि पहला समाज समर्थ होकर, दूसरे को बाहर नहीं धकेल देता। प्रकृति तो है ही संधर्ष का नाम। कभी यह संधर्ष मनुष्य और मनुष्य में होता है, कभी समाज और समाज में, कभी राज्य और राज्य में। संभव

है कि किसी समय यह संघर्ष एक ग्रह और दूसरे ग्रह के बीच में हो, दो ग्रहाण्डों के लोगों के बीच में हो। ऐसे प्रत्येक संघर्ष में, उन इंकाइयों के अलग नियम होते हैं, जो उसमें भाग ले रही हैं। राज्यों के संघर्षों में व्यक्तियों के संघर्ष के नियम लागू नहीं होते, और ग्रहाण्डों के संघर्षों में राज्यों के संघर्षों के नियम असत्य हो जाएंगे। इसीलिए यह आवश्यक है कि इन प्राकृतिक नियमों को खोजा जाए, समझा जाए और फिर उनके अनुकूल जिया जाए। जहां मनुष्य की अथवा समाज की समझ में भ्रम अथवा प्रमाद होता है—नियमों की ठोकर उसे बता देती है कि वह भूल कर रहा था। इस घरातल पर व्यक्ति, प्रकृति से अपना तादात्म्य करता है तो पाता है कि जो जीत रही है, वह भी प्रकृति है, जो हार रही है, वह भी प्रकृति है। तभी वह पाता है कि पीड़ित भी वही है, पीड़क भी वही है। शोषित भी मैं हूँ, शोषक भी मैं हूँ। सारा संघर्ष प्रकृति के भीतर चल रहा है। प्रकृति से प्रकृति ही लड़ रही है—एक संतुलन स्थापित करने के लिए। वही प्रकृति तुम हो, वही मैं हूँ। यही प्रकृति, यही संजीवनी—मनुष्य का विराट रूप है। जब मैं यह अनुभव करता हूँ, तो मैं इस संकीर्ण मानव शरीर में सीमित नहीं रह जाता, मैं विराट प्रकृति हो जाता हूँ।”

सुदामा ने कृष्ण को देखा : क्या था कृष्ण की आँखों में ? क्या था उसके चेहरे पर ? जो कुछ कृष्ण के मुख से निकला था, वह मात्र शब्द नहीं थे, वह कृष्ण की अनुभूति थी। “तो क्या कृष्ण सचमुच इस समय प्रकृति-रूप ही रहा है। कृष्ण के शब्द, अन्य व्यक्ति के लिए मात्र एक चिंतन-पद्धति हो सकते हैं; किंतु कृष्ण के लिए वह जीवन-पद्धति थी। कृष्ण ज्ञान से कहीं आगे बढ़ गया था, अनुभव की सीमा तक...”

सुदामा मौन रहे। कृष्ण भी कुछ नहीं बोले। लगा कि वे अपने भीतर के किसी आवेग को शांत कर रहे हैं... क्रमशः वे सहज हुए। उनके चेहरे पर मुस्कान आई, “अब सोचता हूँ कि मैं यह छोटा-सा मानव शरीर नहीं हूँ—मैं एक विराट व्यवस्था हूँ, तो बहुत सहज नहीं रह पाता हूँ।”

सुदामा को लगा, अब कृष्ण फिर से सुदामा के मित्र के रूप में वापस लौट आया है। बोले, “पर कृष्ण ! इस चिंतन में मैं बहुत बड़ा जोखिम देख रहा हूँ।”

पर कृष्ण के कुछ कहने से पहने ही उनकी दृष्टि तीव्र गति में अपनी ओर आती हुई एक नौका पर पड़ी। उन्हें लगा, क्षण भर में वह नौका उनसे आ टकराएगी।

“वह...!” सुदामा के मुखसे निकला।

कृष्ण ने भी दृष्टि उधर फेरी।

“प्रद्युम्न !” वह सहज भाव से बोले।

आने वाली नौका में अकेला प्रद्युम्न था, जिसने बड़ी दक्षता से अपनी नौका को फेर कर, उनकी नौका के साथ लगा दिया।

नौका ठहर जाने पर दुर्घटना का भय टला तो सुदामा की दृष्टि प्रद्युम्न पर पड़ी। उनके समवयस्क कृष्ण का इतना बड़ा बेटा। उनका विवेक तो इसके सामने एकदम बच्चा है।...कृष्ण ने विवाह जल्दी कर लिया था। विवाह में विलंब का दुष्परिणाम सुदामा भुगत रहे थे। उनके दोनों बच्चे अभी छोटे थे...

प्रद्युम्न और कृष्ण में अद्भुत साम्य था। कल उन्हें उद्वेग और कृष्ण में साम्य लगा था। पर प्रद्युम्न को देखने से तो लगता था कि कृष्ण फिर से तक्षण होकर उनके सामने आ खड़ा हुआ है।

प्रद्युम्न के विषय में बहुत कुछ सुना था सुदामा ने। उसके कारण कृष्ण के घर में कुछ उथल-पुथल भी थी। कुछ विरोध और शिकायतें... पर कोई किसी को दोष नहीं देता था। जीवन में हुई एक आकस्मिक घटना ने प्रद्युम्न के जीवन की धारा को बदल दिया था।

कहते हैं, कुल छः महीनों का था प्रद्युम्न जब कृष्ण का शत्रु शंबर अबमर पाकर उसे उठा ले गया था। निश्चित रूप से शंबर उसकी हत्या करने के लिए ही उसे उठा ले गया होगा; किंतु उसकी मृत्यु नहीं हुई और वह शंबर के ही महल की एक दासी मायावती की संतान के रूप में पलता रहा। सामान्य जन की मान्यता है कि शंबर ने उसे समुद्र में फेंक दिया था, वहां उसे एक मछली खा गई थी। उस मछली को एक मछुए ने पकड़ा और शंबर के महल में बेच आया। वहां रसोइए ने उसका पेट चीरा तो उसमें से जीता-जागता बच्चा निकल आया, जो उसने मायावती को दे दिया।...पर कल से जिन कार्य-कारण संबंधों और प्राकृतिक सत्यों की

चर्चा कृष्ण कर रहे हैं, उन्हीं सत्तों के अन्तर्गत यह संभव नहीं है। छः महीने का बच्चा समुद्र में फेंका जाने पर जीवित नहीं रह सकता। फिर मृत मछली के पेट को चीरने पर उसमें से जीवित बच्चा नहीं निकल सकता।...पता नहीं वे कौन-सी घटनाएँ थीं, जिनके अन्तर्गत प्रद्युम्न शंकर की रसोई की दासी के पास पहुंचा...

पर उससे भी विचित्र दूसरी बात थी : जिस मायावती ने प्रद्युम्न को अपनी संतान के समान पाला, वही उसके किशोर वय को प्राप्त करने पर, उससे अनुरक्त हो गई और उसकी पत्नी बन बैठी।...जन-मानस मानता है कि मायावती स्वयं रति थी और प्रद्युम्न कामदेव का अवतार। इस दृष्टि से मायावती और प्रद्युम्न तो पहले से ही पति-पत्नी थे। उनमें तो यही एक संबंध ही संभव था।...सुदामा यह सिद्ध या असिद्ध नहीं कर सकते कि प्रद्युम्न स्वयं कामदेव हैं या नहीं, पर वे मानते हैं कि मायावती अवश्य ही साक्षात् रति है, जिसके मन में अपनी गोद में पत्नी संतान के प्रति भी वात्सल्य नहीं रति-भाव ही उमड़ा।...मायावती का वय प्रद्युम्न से बड़ा है। हो सकता है वय में मायावती, स्वयं रुक्मिणी भाभी के बराबर हों, या दो-एक वर्ष छोटी, हों। शंशव से बिछुड़े अपने पुत्र को उसकी किशोरावस्था में पाकर कृष्ण और रुक्मिणी भाभी को प्रसन्नता तो अवश्य हुई होगी—पर साथ ही अपनी समवयस्क बहू...रुक्मिणी भाभी को ठीक ही अटपटा लगता है...पर प्रद्युम्न भी क्या करे, जिस स्त्री से उसने मातृत्व और पत्नीत्व दोनों पाया है, उससे विमुख वह कैसे हो सकता है।...फिर थीर पुरुष है प्रद्युम्न ! शंकर का उसने वध किया। शाल्व को उसने पराजित किया...और सुदामा का बेटा—विवेक—अभी छोटा, कोमल-सा बालक है...

“प्रद्युम्न !” कृष्ण बोले, “हमें खोजते हुए आए हो, या संयोग से ही मिल गए हो ?”

सुदामा को कृष्ण के स्वर में अपने पुत्र के लिए अपार स्नेह झलकता दिखाई दिया।

“आप घर पर नहीं मिले तो समझ गया कि आप चाचाजी को सागरतट दिखा रहे होंगे।

सुदामा ने दृष्टि उठाकर देखा : प्रद्युम्न उन्हें, चाचाजी कह रहा था । सुदामा के शरीर में एक सिहरन सी उठी “प्रद्युम्न जैसा तरुण, वीर, विचित्रताओं से भरा हुआ “सुदामा, कृष्ण को ही नहीं, उनके सारे परिवार को स्वीकार्य थे, आत्मीय जन के रूप में, परिजन”

प्रद्युम्न अपनी नौका छोड़, उनकी नौका में आ गया ।

“सुदामा ! यह प्रद्युम्न है ।” कृष्ण ने औपचारिक परिचय कराया, “मेरा बड़ा बेटा ! इसे देखकर लगता है न कि बच्चे जवान हो रहे हैं और हम बूढ़े होते जा रहे हैं ।” कृष्ण खोर से हंसे, “पर उससे अपने सामर्थ्य का भी बोध होता है” जिसका ऐसा शूरवीर पुत्र हो” ।” कृष्ण ने ममता से अपने पुत्र को निहारा ।

“ठीक कह रहे हो मित्र !” सुदामा इतना ही कह सके ।

“चाचाजी ! आपको द्वारका का सागरतट कैसा लगा ?” प्रद्युम्न ने बड़े सम्मानपूर्वक सुदामा से पूछा ।

“सुंदर है ।” सुदामा बोले, “बहुत सुंदर है ।”

“तुमने देखा ही क्या है ?” कृष्ण सीलापूर्वक, उन्हें घिटाते हुए-से बोले, “एक तो इस बीच सागर अत्यन्त शांत रहा है । खोर की कोई लहर ही नहीं उठी । दूसरे, सागर को देखने के स्थान पर तुम दर्शन बघारते रहे । अरे, सौन्दर्य को देखने के लिए तो कृष्ण की आंखें चाहिए ।” वे सुदामा के निकट खिसक आए, “तुम किसी दिन प्रद्युम्न की नौका में जाओ । सारा दर्शन भूल जाओगे । बीच ज्वार में ले जाकर नौका खड़ी कर देगा ।”

“पिताजी !” प्रद्युम्न शिकायत के-से स्वर में बोला ।

कृष्ण खिलखिलाकर हंस पड़े, “अरे तो इसमें संकोच की कौन-सी बात है । जो बच्चा छः महीने के वय में ही सागर से लड़कर जीत गया, वह तो उससे ऐसे खिलवाड़ करेगा ही ।” सहसा, कृष्ण की मंगिमा बदल गई, “अच्छा चलो अब लौट चलें । बहुत देर हो गई है । रुक्मिणी रुट होंगी ।”

“आपको और किसी का भय तो है ही नहीं ।” प्रद्युम्न ने आंखों की कोरी से अपने पिता को देखा ।

“नहीं भाई ! तुमसे भी भय लगता है ।” कृष्ण पुनः हंसे, “तुमने

यताया नहीं, तुम मुझे बुलाने आए थे क्या ?”

“जी हां !” प्रद्युम्न धीरे से बोला, “हस्तिनापुर से समाचार आया है।”

“क्या समाचार है ?”

“बड़े फूफा जी द्यूत में अपना सर्वस्व हार गए हैं—अपने भाइयों तथा युवा द्रौपदी समेत, सब कुछ ! दुर्योधन ने उनके साथ बहुत दुर्व्यवहार किया है—विशेषकर द्रौपदी युवा के साथ !”

“मुझे पहले ही आशंका थी !” कृष्ण जैसे अपने-आपसे बोले और उन्होंने चम्पू उठा लिए।

उस क्षण से कृष्ण अपने भीतर कुछ ऐसे डूबे, जैसे वे वहां हों ही नहीं। किंतु इस आत्मलीनता के कारण पहले उन्हें नौका चलाने और बाद में रथ हांकने में कोई परेशानी नहीं हुई। वे यंत्रवत् ये सारे कार्य करते रहे।

सुदामा ने प्रद्युम्न को देखा : वह भी शांत-मौन बैठा था। पिता के चित्त में उसने कोई बाधा खड़ी नहीं की थी। न कोई अतिरिक्त सूचना दी और न इस विषय में घातलाप या तर्क-वितर्क करना चाहा।...वैसे सुदामा को चित्तित उन दोनों में से कोई भी नहीं लग रहा था। कृष्ण मानसिक रूप से जैसे कहीं और चले गए थे, किंतु जहां कहीं गए थे, चित्तित और परेशान वहां भी नहीं थे। वे अस्यन्त आत्मविद्वस्त दिखाई पड़ रहे थे।...वैसे भी समाचार देने आए प्रद्युम्न ने समाचार देने में कोई घबराहट नहीं दिखाई थी और न कृष्ण ने इस समाचार को इतने साधारण रूप से प्रस्तुत करने के विषय में कुछ कहा था।

पिता और पुत्र—दोनों ही जीवन में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों, जोखिमों और संघर्षों को भेले हुए थे।...सुदामा सोच रहे थे...“यह सब सुदामा जैसे दार्शनिक के बस का नहीं था। उन्हें तो एक छोटी-सी दुर्घटना भी इतना उद्विग्न कर जाती थी कि वे अपना संतुलन खो बैठते थे।”

सहसा सुदामा का ध्यान उस सूचना की ओर चला गया। क्या अर्थ है इसका ?...युधिष्ठिर अपना सर्वस्व हार गए थे। अर्थात् इन्द्रप्रस्थ का राज्य, धन-धान्य, सत्ता-संपत्ति सब कुछ ! अपने भाइयों तथा अपनी पत्नी

पांचाली द्रौपदी को भी हार गए हैं। तो क्या वे दुर्योधन के दास हो गए हैं? दास! कृष्ण की बुआ के बेटे है पांडव! बलराम जैसे भाई। बलराम से कम नहीं माना है कृष्ण ने उन्हें। और फिर अर्जुन! कृष्ण का भाइयों से भी बड़कर मित्र। सुभद्रा का पति! सुभद्रा से कितना प्यार करता है कृष्ण। इतनी छोटी है उससे कि उसे बहन नहीं, सदा बेटी माना है कृष्ण ने। और अब अर्जुन, दुर्योधन का दास हो गया है... इंद्रप्रस्थ का राज्य भी तो एक प्रकार से कृष्ण का ही स्थापित किया हुआ था। नहीं तो शायद दुर्योधन कुछ भी न देता पांडवों को। और दे भी देता, तो इंद्रप्रस्थ में था ही क्या? कुछ घन थे, कुछ खंडहर। कृष्ण ने ही अपने सहयोग से उसे एक संपन्न राज्य बना दिया था, इतना संपन्न कि युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ किया। कृष्ण ने उस यज्ञ में, आगंतुकों के पैर धोए और युधिष्ठिर ने अग्रपुरुष के रूप में कृष्ण की पूजा की।... कृष्ण ने मध्य देश में धर्म-राज्य के रूप में स्थापित किया था इंद्रप्रस्थ को... और युधिष्ठिर जुए में सब कुछ हार गया।

महल में पहुंचकर कृष्ण सीधे अपने कमरे में गए।

“बैठो सुदामा!” उन्होंने कहा, “विश्राम के लिए एकांत चाहोगे, या यही चर को बुला लूं।”

“बुला लो।”

कृष्ण ने अपना मुकुट उतार कर चौकी पर रखा और एक सिंहासन पर आराम से बैठ गए। चर आया तो बोले, “विस्तार से बताओ, क्या समाचार लाए हो!”

“अनर्थ हो गया है यादवश्रेष्ठ!” चर बोला, “समाचार कहने को उसमें क्या है।”

“बोलो।”

“हस्तिनापुर में नव-निर्मित सभा-भवन में भीष्म पितामह, महाराज-घृतराष्ट्र, गुरुद्रोणाचार्य, महामंत्री विदुर तथा अन्य वृद्ध जनों एवं राजरथ वर्ग की उपस्थिति में चौपड़ का खेल आरंभ हुआ।” चर बोला, “पांडवों की ओर से युधिष्ठिर खेल रहे थे और कौरवों की ओर से शकुनि।”

“क्या युधिष्ठिर नहीं जानते थे कि शकुनि अत्यन्त धूर्त है और उसने



जीतना संभव नहीं है ?" कृष्ण ने पूछा ।

"जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह तप्य गर्वविदित या वागुदेव !" घर ने उत्तर दिया, "किंतु महाराज युधिष्ठिर ने दमन्यु विरोध नहीं किया। वे कुछ इतने उत्साह से थे कि कुछ ही दिनों में अपना सब कुछ हार गए। उन्होंने इतनी शीघ्रता में इतने बड़े-बड़े दांव बदे, जैसे वे सब कुछ स्वयं ही हार जाना चाहते हों। वे अपना धन-धान्य, राज-पाट, अपने भाई, स्वयं अपने आपको और अंततः महारानी द्रौपदी को भी हार गए।"

मुद्रामा ने कृष्ण की ओर देखा : कृष्ण के चेहरे पर अचंचल शांति थी।

"दुर्योधन ने घोषणा की कि पांचाली द्रौपदी अब रानी नहीं, कौरवों की दासी है, इसलिए उसे एक दासी के रूप में सभा-भवन में उपस्थित किया जाए..."।"

"पापी !" कृष्ण अपने हाँठों में धुदबुदाएँ।

"पहले एक सारथि 'प्रातिकामी' को इस कार्य के लिए भेजा गया। किंतु देवी पांचाली उसके साथ नहीं आई। उन्होंने उसके माध्यम से एक प्रश्न पूछा कि यदि युधिष्ठिर पहले स्वयं अपने-आपको हारें गए थे तो उन्हें अपनी पत्नी को दांव पर लगाने का अधिकार कैसे था ?"

"ठीक पूछा द्रौपदी ने !" कृष्ण बोले।

"पूछा तो ठीक ही," घर बोला, "किंतु किसी ने उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। इस बार दुर्योधन ने दुःशासन को आदेश दिया कि देवी पांचाली जहाँ भी हों, जिस भी अवस्था में हों, उन्हें तत्काल धसीट कर लाया जाए और सभा में उपस्थित किया जाए। दुःशासन ने जाकर देवी को दासी के समान संबोधित कर सभा में चलने के लिए कहा। देवी ने उससे बचने के लिए राजा धृतराष्ट्र के अंतःपुर की ओर भागने का प्रयत्न किया। दुःशासन एकवस्त्रा, रजस्वला देवी पांचाली को उनके बालों से पकड़ कर सभा में धसीट लाया। न तो उसने यह सोचा कि वे केश, राजसूय यज्ञ के अंत में अवभृथ स्नान के समय मंत्रों से अभिसिंचित जल से धोए गए थे और न उसने पांडवों की शक्ति के विषय में सोचा। दुर्योधन ने पांचाली से अशोभन प्रस्ताव किए और कर्ण ने हंसकर कहा कि दायित्व से मुक्त होना चाहे तो द्रौपदी किंती राजकुमारों से विवाह कर लें..."।"

“कर्ण का सारा धर्म-विचार क्या हुआ।” कृष्ण बोले, “नीच को अपनी प्रतिहिंसा में धर्म-विचार याद नहीं रहता।”

“किंतु देवी पांचाली अपना प्रश्न दुहराती रहीं।” चर बोला, “धृतराष्ट्र के पुत्र विकर्ण ने देवी का पक्ष लेकर कहा कि युधिष्ठिर को द्रौपदी को दांव पर बंदने का कोई अधिकार नहीं था। अतः देवी दासी नहीं है। उनसे दुःशासन का इस प्रकार का व्यवहार अशोभनीय है। किंतु कर्ण ने विकर्ण को डांट दिया और बड़े खुले शब्दों में पांच पतियों की पत्नी होने के कारण द्रौपदी को व्यभिचारिणी बताया। उसने कहा कि देवी को निर्वस्त्र कर देने में भी कुछ अग्यथा नहीं है।”

सुदामा ने देखा, कृष्ण के जबड़े पहली बार भिंचे थे।

“उस भरी सभा में देवी पांचाली दुःशासन के हाथों से बचने का प्रयत्न करती रही और धार-वार अपना प्रश्न दुहराती रहीं। उन्होंने अपने हारे हुए पतियों को पुकारा; पर वे उनकी सहायता को नहीं आए। तब उन्होंने कुव वंश के वृद्ध-जनो से सहायता मांगी; किंतु धर्म-अधर्म के नाम पर वे भी चुप रहे। एक विदुर ने बोलने का प्रयत्न किया तो दुर्योधन ने बोलने नहीं दिया। दुःशासन उनके वस्त्र खींचता जा रहा था, और देवी का शरीर उधड़ता जा रहा था; तब देवी ने सब ओर से निराश होकर, आपका नाम ले-लेकर सहायता के लिए पुकारा...।”

कृष्ण की सारी चेतना जैसे उनकी आंखों में केन्द्रित हो गई थी। “तब ?” उन्होंने पूछा।

“देवी पांचाली के मुख से आपका नाम निकलते ही, जाने दुःशासन को क्या हुआ। उसके हाथ कांपने लगे, उसकी आंखें भय से फैल गईं और मुख का वर्ण पीला पड़ गया। भयभीत होकर उसने देवी का वस्त्र छोड़ दिया और अपना माथा पकड़कर भूमि पर ऐसे बैठ गया, जैसे उसे चक्कर आ गया हो।”

“सौभाग्यशाली है कि उसका माथा धूम गया, नहीं तो माथा कटकर भूमि पर गिरता।” कृष्ण जैसे अपने-आपसे बोले।

“इससे पांडवों को बहुत बल मिला।” चर बोला, “भीम अपना श्रोत्र नहीं रोक सके और उन्होंने दुःशासन का वक्ष चीर कर उसका रक्त पीने

की प्रतिज्ञा की। देवी पांचाली ने भी प्रतिज्ञा की कि दृष्ट दुःशासन के हाथों सीधे गए इन ब्राह्मणों को तब तक खुसा रखेंगी, जब तक दुःशासन के वध के रक्त से उसे धो नहीं लेंगी। अर्जुन ने कर्ण के वध की प्रतिज्ञा की और सहदेव ने दशकुनि के वध की। इन प्रतिज्ञाओं से धृतराष्ट्र एकदम डर गए। उन्होंने दुर्योधन को उसके अनुचित व्यवहार के लिए हाटा और देवी द्रौपदी को कहा कि यह दासी नहीं, कुरुवंश की जेठी बहू है। उन्होंने देवी पांचाली को वरदान मांगने के लिए कहा और देवी के वरदानों के अनुसार पांडवों को उनकी समस्त संपत्ति लौटा कर उन्हें दासत्व से मुक्त कर दिया।”

कृष्ण के चेहरे पर पूर्ण शांति थी। बीच में टाण भर के लिए उभर आई उद्विग्नता उनकी गंभीरता से विलीन हो गई थी, “जब तुम चले तो पांडव कहाँ थे?”

“वे लोग इन्द्रप्रस्थ लौटने की तैयारी में थे।”

“उद्वेग से तुम्हारी भेंट हुई?”

“जी नहीं।” चर बोला, “मुझे उनके हस्तिनापुर में वर्तमान होने की कोई सूचना नहीं मिली।”

कृष्ण थोड़ी देर मौन बैठे कुछ सोचते रहे। फिर बोले, “अच्छा तुम जाओ। विश्राम करो।”

चर चला गया तो कृष्ण सुदामा की ओर मुड़े, “सुदामा! कुछ समय के लिए तुम्हें अकेले रहना होगा। भोजन कर विश्राम करना। संध्या समय तक लौटूंगा।”

इससे पहले कि सुदामा कुछ कहते, कृष्ण उठ खड़े हुए, “आओ प्रद्युम्न!”

और अगले ही क्षण, पिता-पुत्र कक्ष से बाहर चले गए।

## ग्यारह

भोजन कर सुदामा विश्राम के लिए लेट गए। कृष्ण अभी तक नहीं लौटे

थे, और कोई नहीं जानता था कि वे कब तक लौटेंगे। शक्तिमणी ने सुदामा को बताया था कि कृष्ण की सारी गतिविधियों का लेखा-जोखा रखना किसी के बस का नहीं है। इस समय वे कहीं होंगे तीर धया कर रहे होंगे, यह कोई नहीं जानता। बस अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर की घटनाओं के संदर्भ में ही कहीं व्यस्त होंगे।

ऊँघते-ऊँघते सुदामा का मन भी उन्हीं घटनाओं में भटक गया। दुर्योधन और उसके साधियों का व्यवहार सुदामा सरलता से समझ जाते थे; किन्तु पांडवों का व्यवहार... युधिष्ठिर का इस प्रकार स्वेच्छा से सब कुछ हार जाना और उनके महाबली भाइयों का बड़े भाई की रक्षा के धर्म का निर्वाह करने के लिए समर्थ होते हुए भी इतना अत्याचार चुपचाप सह जाना। अपनी आँसों के सामने अपनी पत्नी के साथ सार्वजनिक रूप से ऐसा अत्याचार होते देखना... पर शायद पांडव इतने समर्थ भी नहीं रहे। दुर्योधन बहुत व्यावहारिक व्यक्ति लगता है। उसने कुछ भी संयोग पर न छोड़ा होगा। उसके सारे साथी, मित्र, परिजन वहाँ उपस्थित थे और शास्त्र-सज्जित थे। उसकी सेनाएं भी सन्नद्ध रही होंगी। ऐसी स्थिति में बहुत संभव है कि पांडव उनसे भिड़ने का प्रयत्न करते तो घेरकर को देखकर ही भीष्म भी चुप लगा गए हों। हो सकता है कि उन्हें यह शंका हो कि उनके हस्तसौंप से पांडवों को बल मिलेगा और दुर्योधन और भी क्रुपित होगा; और यदि उस सभा में एक बार भी, किसी भी ओर से शास्त्र उठ गया होता, तो पांडवों का जीवित बच कर निकलना संभव न होता। यह भी संभव है कि दुर्योधन ने द्रौपदी के साथ इतना दुर्व्यवहार, पांडवों को उकसाने के लिए ही किया ही! ... ऐसी स्थिति में पांडवों द्वारा यह सारा अपमान पी जाना ही, उनके जीवित रहने का एकमात्र उपाय ही। सारे कुरु-वृद्धों का—यहाँ तक कि भीष्म और द्रोण जैसे लोगों का भी धर्म-अधर्म के नाम पर चुप रह जाना... शायद यही कारण

पर ये लोग कैसे रहते होंगे ऐसे वातावरण में। दुर्योधन और उसके मित्र तो निपट शोहदे और अपराधी मनोवृत्ति के लोग हैं। उनके लिए न

गुरुजनों का सम्मान कोई महत्त्व रखता है और न कुल की मर्यादा। जहाँ शासक वर्ग ऐसा हो, वहाँ प्रजा के सम्मान और संपत्ति की रक्षा कौन करेगा। उसमें तो भीष्म पितामह का भी दम धुटता होगा। लगता है कि संसार भर के दुष्ट, क्रूर और अन्यायी अपराधी दुर्योधन के चारों ओर घिर आए हैं और वे सोग राजनीतिक सत्ता से सम्पन्न होकर संसार में से धर्म के नाश के अभियान पर निकले हैं... कर्ण को कितना धर्मात्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। प्रतिदिन पूजा-याठ, दान-पुण्य। अलौकिक रूप। और धीरता... पर है क्या? एक नारी को सार्वजनिक रूप से निर्बस्त्र करने को बढ़ावा दे रहा है और उस अपमानित नारी को व्यभिचारिणी बता रहा है... ऐसे होते हैं धूरवीर और धर्मात्मा लोग? वह तो अपनी स्थिति के कारण भयंकर हीन भावना से पीड़ित व्यक्ति है, जो अपनी प्रतिहिंसा में संसार भर को नष्ट करने पर तुला हुआ है।... दुर्योधन ने एक धार अंग देश का राज्य देकर उसे अपमान से क्या बचाया, वह उसका शीत दास हो गया और उसके अधर्म, अन्याय और अत्याचार के लिए न केवल सहिष्णु हो गया, वरन् उसे बढ़ावा देने लगा। पाप का सबसे बड़ा समर्थक है यह कर्ण! महत्त्वाकांक्षा और प्रतिहिंसा मनुष्य को कितना नीच बना देती है...

किंतु अद्भुत है यह पांचाली द्रौपदी! अग्नेस्वयंवर में भी उसने कर्ण को दुत्कार दिया था; और इस सभा में भी उसने अपने आत्मबल से ही अपनी और अपने पतिव्रतों की रक्षा की।... और कृष्ण के नाम पर कैसे दुःशासन कांपने लगा। कृष्ण की अनुपस्थिति में भी उसके नाम का इतना धातंक। उपस्थित पांडवों पांडवों से दुःशासन नहीं डरा, किंतु अनुपस्थित कृष्ण से डर गया। अद्भुत है कृष्ण भी! कंस की भरी सभा में घुसकर उसने कंस का वध कर दिया था। जरासंध के घर में घुसकर उसे तलवार कर मारा। राजसूय यज्ञ के उत्सव में शिशुपाल का वध कर दिया। कृष्ण अकेला भी कहीं घिर नहीं पाता। हस्तिनापुर के सभा-भवन में वह होता तो पांडवों के समान चुप नहीं रहता। अपने सुदर्शन चक्र से दुःशासन का सिर उतार लेता... यही सोच कर शायद दुःशासन का सिर चकरा गया होगा...

सहसा सुदामा का ध्यान दूसरी ओर चला गया...ये राजे-रजवाड़े, बड़े-बड़े लोग, समाज के शिरोमणि ! क्या धर्म है इनका ? छूत क्रीड़ा और मद्यपान । इन्हें कोई नहीं कहता कि ये व्यसन हैं...राजाओं की शोभा नहीं । युधिष्ठिर जुआ खेलने से मना नहीं कर सके, क्योंकि वह राजाओं का खेल है और उसका निमंत्रण अस्वीकार करने पर वे राज-समाज में हास्यास्पद हो जाएंगे । व्यसन और दुर्गुण भी राजाओं की शोभा है क्या ? ...और फिर उनकी सभा में विवाद क्या होता है कि यदि युधिष्ठिर छूत मे स्वयं को पहले हार चुके थे तो उन्हें द्रौपदी को दाव पर लगाने का अधिकार था या नहीं ? कोई यह नहीं कहता कि जुए में किसी मनुष्य को दाव पर लगाने का किसी को अधिकार ही कैसे सकता है ? स्वयं अपने-आपको भी नहीं ! छोटे भाई और पत्नी क्या श्रूत दास हैं कि उन्हें इस प्रकार हारा-जीता जाए और उसके नियमों के विषय में तर्क-वितर्क किए जाएं । इस राज-समाज के धर्म का आधार ही अनुचित है...और कैसा है यह धृतराष्ट्र ! दुर्योधन जैसे दुष्ट और अत्याचारी बेटे पर प्राण कौसा है यह धृतराष्ट्र ! दुर्योधन जैसे दुष्ट और अत्याचारी बेटे पर प्राण सुदामा को बाबा की याद हो भाई । एक वे हैं कि जिनके लिए अपने-पराए का कोई भेद नहीं है । और एक यह है...

सुदामा के मन ने एक दूसरी करवट ली । क्या यहाँ कृष्ण का कर्म और फल का सिद्धांत कार्य नहीं करता, क्रिया और प्रतिक्रिया का ? द्रुपद और द्रोणाचार्य में कुछ बैमनस्य हुआ । पता नहीं दोष किसका था, पर द्रुपद ने शायद द्रोणाचार्य का तिरस्कार किया । प्रतिक्रियास्वरूप द्रोणाचार्य ने अर्जुन और भीम की सहायता से द्रुपद को पराजित-अपमानित कर, उसका आधा राज्य छीन लिया । उसकी प्रतिक्रिया में द्रुपद ने कृष्ण की सहायता से स्वयंवर के माध्यम से अर्जुन को अपना जामाता बना कर, शिष्य की गृह के विरुद्ध खड़ा कर दिया । उसकी प्रतिक्रिया में द्रुपद ने पांडवों पर से संरक्षण का हाथ उठाकर दुर्योधन को पूरी छूट दे दी । दुर्योधन ने राज्य के बंटवारे के नाम पर इंद्रप्रस्थ के खंडहर और सांडव-प्रस्थ के वन देकर वस्तुतः देश निकाला दे दिया । उसकी प्रतिक्रिया में कृष्ण की सहायता से पांडवों ने इंद्रप्रस्थ को जंबूद्वीप का सबसे सम्पन्न राज्य

चना दिया। उनकी सम्पन्नता से दुर्योधन की प्रतिहिंसा और अधिक भड़की। प्रतिक्रिया में हस्तिनापुर में द्यूत-झीड़ा हुई। पांडवों का राज्य चाहे वापस मिल गया, किंतु द्रौपदी का अपमान हो चुका है और पांडव, कौरवों में से अनेक के वध का संकल्प कर चुके हैं... यह क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला यही तो नहीं स्केगी। यह तो अभी और आगे बढ़ेगी। संभवतः कृष्ण के मन में भी यही है। हो सकता है कि निकट भविष्य में कौरव और पांडव रण-सज्जित हों। युद्ध में अन्य राजा लोग भी एक या दूसरे के पक्ष में खड़े होंगे।... युद्ध हुआ तो बहुत भयंकर होगा। युद्ध के परिणाम-स्वरूप जो क्षय होगा, उससे यह संपूर्ण भूखंड धन और जन की क्षति से कंगाल हो जाएगा। देश की प्रतिभा नष्ट हो जाएगी। सैनिक दृष्टि से दुर्बल हो जाएगा। बाहरी जातियों के आक्रमण होंगे। परसंप्रता आएगी...

सुदामा को लगा वे घटनाओं के विषय में नहीं सोच रहे, गणित का कोई सरल-सा प्रश्न सुलझा रहे हैं। इस प्रकार व्यक्ति ठीक-ठाक विश्लेषण करता जाए तो वह भविष्यवक्ता हो सकता है। करने वाले को पता नहीं कि उसकी क्रिया कितनी दूर जाएगी... तभी तो कृष्ण कहता है कि कर्म करो, फल को प्रकृति की व्यवस्था पर छोड़ दो।... जब द्रुपद ने द्रोणाचार्य का तिरस्कार किया था तब क्या पता था कि वह तिरस्कार किसी दिन कौरवों-पांडवों के युद्ध का कारण बन सकता है। जब द्रोणाचार्य ने द्रुपद को अपमानित कर उनका राज्य छीना तो क्या वे जानते थे कि इस क्रिया की प्रतिक्रिया में उनका प्रिय शिष्य अर्जुन उनके विरोधी पक्ष में जा मिलेगा। जब उन्होंने हस्तिनापुर के राजाश्रय को एक उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया तो क्या वे जानते थे कि इसके परिणामस्वरूप उनका पुत्र अदवस्थामा, दुर्योधन जैसे क्रूर, अत्याचारी, अन्धारी, अविवेकी और व्यसनी की संगति में पड़ जाएगा?... एक कर्म कर व्यक्ति क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला आरंभ कर देता है। फिर वह स्वतंत्र नहीं रह जाता। वह उस शृंखला में बंधता चला जाता है...

क्या इसी को नियति कहते हैं ?

क्या नियत है—घटनाएं या नियम ?

सुदामा कुछ देर सोचते रहे... संसार में प्रत्येक व्यक्ति या तो कुछ

घटित करने के लिए प्रयत्नशील है या संभावित घटना को टालने के लिए। नियमों को बदलने का प्रयत्न कोई नहीं करता...नियम खोजे जाते हैं, उन्हें बदला नहीं जाता, कृष्ण भी कहता है कि प्रकृति के नियम ही सत्य हैं, उन्हें कोई नहीं बदल सकता...नदी की धारा मिट्टी को गला देती है इस-लिए घाट बनाने वाला पत्थर की सीढ़ियां बनाता है, यह प्रयत्न नहीं करता कि पानी मिट्टी को न गलाए...

नियम तो पूर्व-निर्धारित हैं ही।...मनुष्य के जन्म के, जीवन के, मृत्यु के। पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन...सबके स्वभाव, सबकी प्रकृति नियत है। इन पूर्व-निर्धारित नियमों के बीच ही तो मनुष्य कर्म करने को स्वतंत्र है। तो मनुष्य को अपनी नियति को भी पहचानना चाहिए और स्वतंत्रता को भी। जो अपनी नियति को जितना अधिक जानेगा, वह उतना समर्थ होगा...जैसे कृष्ण है...जो और नये नियमों को खोजेगा, वह अपनी नियति को और अधिक जानेगा और अपेक्षाकृत स्वतंत्र होगा...क्या ज्ञान-मुक्ति इसी का नाम है?...

तभी कृष्ण ने कस में प्रवेश किया।  
"तो गए क्या सुदामा?"

सुदामा ने आंखें खोल दीं। क्षण भर में उनके मस्तिष्क का आल-जाल बिलीन हो गया। वे उठकर बैठ गए।  
"कब आए?"

"बस आया ही हूँ।" कृष्ण मुस्कराए, "तुम क्या करते रहे?"  
"बस ऊंधता रहा।" सुदामा बोले, "तुम कहां-कहां हो आए?"

"मैं भी इधर-उधर भटकता ही रहा।" कृष्ण धीरे से बोले, "द्वारका में रहते हुए, हस्तिनापुर की घटनाओं को अधिक प्रभावित नहीं किया जा सकता। पर, दो बातों का प्रयत्न तो मुझे करना ही है : एक तो यह कि वहां की घटनाओं की ठीक-ठीक सूचना, यथाशीघ्र हमें मिलती रहे। दूसरे, कौरवों को यह आभास होता रहे कि पांडवों के हित-अहित की हमें गंभीर चिंता है। तीसरे, बलराम मंथा का प्रभाव दुर्योधन को नियंत्रित करता रहे।...बस ऐसे ही कुछ प्रबंध करता रहा।"

सुदामा कुछ बोले नहीं। उनके मन में दुःशासन का एक काल्पनिक



चित्र उभरा...कैसे द्रौपदी के मुख से कृष्ण का नाम सुनते ही उसके हाथ कांप गए होंगे और उसका सिर चकरा गया होगा।...कृष्ण द्वारका में रहते हुए भी, हस्तिनापुर की घटनाओं को प्रभावित कर सकता है...

कृष्ण ने अपना मुकुट उतारकर एक चौकी पर रखा और आकर सुदामा के पास पलंग पर बैठ गए।

“सुदामा ! प्रातः प्रद्युम्न के आने से पहले, तुम मेरे चित्त के किसी जोखिम की चर्चा कर रहे थे।”

सुदामा ने बड़ी कठिनाई से, अपने मुख से निकलती चीख रोकी।... अद्भुत है यह व्यक्ति ! एक ओर यह जंबूद्वीप की विभिन्न राजधानियों में हो रही राजनीतिक उठा-पटक, मानवीय हिंसा-प्रतिहिंसा के इतिहास की सूक्ष्मताओं में उलझा हुआ है और दूसरी ओर सुदामा से हुई बात-चीत...

सुदामा को अपनी बात याद करने के लिए थोड़ा प्रयत्न करना पड़ा।

“मैं यह कह रहा था कि यदि मनुष्य यह मान ले कि जो कुछ ही रहा है, वह प्रकृति की इच्छा से ही हो रहा है, इसलिए वह सब उचित है; तो संसार में होने वाला समस्त अन्याय, दमन, शोषण, पाशविकता—सब को उचित ठहरा दिया जाएगा। कहीं कोई विरोध नहीं होगा, कहीं प्रतिकार नहीं होगा।” सुदामा धिम्भित हो गए।

“नहीं !” कृष्ण पूर्णतः आश्चर्य से, जैसे उन्होंने इस पक्ष पर भी पहले से ही मनन कर रखा हो, “प्रकृति बाहर की घटनाओं में ही तो नहीं है। मनुष्य का मन, उसकी भावनाएँ, उसकी चेतना—यह भी तो प्रकृति ही है। सुख और प्रमाद के समय चाहे उसकी चेतना दब जाए, किन्तु दुःख, पीड़ा और यातना में चेतना का स्वर मुखर होकर उसके सम्मुख आता है। मैंने कहा कि सन्तुलन स्थापित करने के लिए प्रकृति ही प्रकृति के विरुद्ध लड़ रही है। अन्याय, दमन, शोषण तथा अत्याचार को समाप्त करने का आह्वान भी तो प्रकृति का ही आह्वान है। इस धरती पर अपने लाखों वर्षों के जीवन में, मनुष्य के हृदय में से यह भावना कभी मिटी नहीं। केवल स्वार्थ के क्षणों में मनुष्य इस आह्वान को सुन नहीं पाता, अन्यथा यह ज्योति सदा उसके हृदय में जलती रहती है...”

मुदामा ने देखा, कृष्ण जैसे किसी स्वप्न में ली गया था। उसके सामने से मुदामा जैसे कहीं विलीन हो गए थे और कृष्ण के आसपास कुछ ऐसा घनीभूत हो आया था, जो उनकी चेतना पर छा गया था।

कृष्ण बोले तो उनका स्वर भी स्वप्नित था, जैसे वे किसी और लोक से बोले रहे हों, "दश संसार में न तो राक्षसत्व की कोई सीमा है मुदामा, और न देवत्व की। कल्पना करो एक समाज की, जहाँ यदु, भोज, अन्धक और युष्णिर्वा की कितनी ही जातियों ने मिसकर, अपने लिए एक गण-तांत्रिक शासन-व्यवस्था की हो और उस व्यवस्था के प्रमान के रूप में राजा उपसेन को शासन के अधिकार दिए हों। पर व्यवस्था की स्थापना कर के उसकी ओर से असावधान हो गए। वे मूल गए कि प्रकृति निरन्तर सचेत और गतिशील है। असावधानी भी तो अकर्म ही है। उनकी असावधानी का परिणाम यह हुआ कि राजा का पुत्र, अपने पिता के महत्त्व का अनुचित लाभ उठाता हुआ क्रमशः राजनीतिक सत्ता हस्तगत करता रहा। अपना संगठन बनाता रहा। और उस सम्पूर्ण समाज को, जो स्वयं की उपसेन की प्रजा मानता था, इन लक्ष्यों का पता उस दिन लगा, जब कंस, उपसेन को कनरागार में डाल, सम्पूर्ण राज्याधिकार अपनी मुट्ठी में समेट, उनकी गणतांत्रिक व्यवस्था को नष्ट कर, स्वयं एकछत्र राजा बन चुका था। वह समाज, जिसने स्वयं एक व्यक्ति को राजनीतिक अधिकार देकर, अपना प्रधान बनाया था, तब इतना असमर्थ हो चुका था कि कंस के अत्याचार के विरुद्ध एक शब्द कहने में भी भय का अनुभव करता था। कंस ने समाज की अकर्मण्यता तथा असावधानी का लाभ उठाकर राजनीतिक संगठन को सर्वथा असामाजिक तत्वों से भर दिया था। समाज के हित के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए। निहित स्वार्थों से प्रेरित अन्धायी लोग विभिन्न अधिकार और शक्तियों संभाले बैठे थे। व्यवस्था ऐसी भ्रष्ट हो गई थी कि उसमें चरित्रवान व्यक्ति टिक ही नहीं सकता था। भ्रष्ट व्यवस्था का पहला लक्षण यह है कि उसमें भ्रष्ट व्यक्ति समाज के शीश, पर स्थापित होने लगता है; अधिकार और शक्ति उन हाथों में संचित होती चली जाती है, जो उसका सन्तुलित, व्यापक, बहुजन हितार्थ उपयोग करना जानता ही नहीं। भौतिक सुख-सम्पत्ति पर उसी स्वार्थी का आधिपत्य हो

जाता है और अपने इस शोषणजन्य संघर्ष के कारण, वह समाज में सम्मानित और अग्रगण्य हो जाता है। ऐसे समाज में आतंक का शासन होता है। भले लोग दुबल, भीरु और असंगठित हो जाते हैं। ऐसा ही समाज कंस ने बना डाला था। नहीं तो क्या यह सम्भव था कि एक निराधार प्रचार से आशंकित होकर वह वसुदेव और देवकी जैसे गणमान्य दम्पति को बन्दी बनाकर, कारागार में डाल देता और सम्पूर्ण यादव समाज में से कोई उसका विरोध न कर पाता। और कौन जानता है कि दूरों को हतवीर्य करने के लिए ही उसने स्वयं ऐसा प्रचार किया हो। फिर एक-एक कर उसने देवकी के सात नवजात शिशुओं की हत्याएं की...” कृष्ण का स्वर भारी आया था, “यह तो सर्वविदित है, क्योंकि उसका सम्बन्ध समाज के महत्वपूर्ण लोगों से था। उस वर्ग से था जो किसी-न-किसी रूप में शासन से सम्बद्ध था। किन्तु सामान्य प्रजा और गौण-गौणिकाओं की कितनी सन्तानों को भ्रूत्यु-दण्ड दिया गया होगा — यह कौन जानता है। उस सम्पूर्ण जाति का कैसा-कैसा शोषण न किया गया होगा...”

कृष्ण कुछ रुके। पर सुदामा क्या कहते। वे तो अपना हृदय धामे झुपचाप कृष्ण के बचपन की कथन कथा सुन रहे थे। वे जानते थे जब-जब कृष्ण अपने परिवार पर होने वाले कंस के अत्याचार याद करते हैं, तो ऐसे ही विह्वल हों जाते हैं। उनके भीतर अत्याचार के विरुद्ध जो आक्रोश उठता है, वह उन्हें किसी भी पीड़ित का समर्थन करने के लिए प्रेरित करता है। उनके चिन्तन पर किया गया सुदामा का आक्षेप कदाचित् उन्हें उसी मनःस्थिति में ले आया था।

“मैंने जब सुघ-संभाली,” कृष्ण बोले, “तो यही पाया कि कंस के कृपापात्र जहाँ-तहाँ घूमते हैं और छीना-भपटी, चोरी-डकती, हत्याएं-अत्याचार करते हैं। मैं जहाँ-पल-रहा था, वह बाबा नन्द के घुमक्कड़ गोपालों का क्षेत्र था। कंस की सेनाओं का वहाँ सीधा शासन नहीं था; किन्तु यमुना पार वह क्या नहीं करता था। फिर भी नन्द बाबा के क्षेत्र में भी कंस का आतंक कम नहीं था। लोग अपने बच्चों के मुख से छीन-छीन कर दूध भयूरा नगरी में भेज देते थे। अपने पशुओं को अपने घरों से दूर वन में चराने से डरते थे। अपने क्षेत्र में आए प्रत्येक नये व्यक्ति को कंस के

किसी अत्याचारी दूत के रूप में देखकर भयभीत हो जाते थे। आर्थिक और राजनीतिक शोषण की पराकाष्ठा थी—” कृष्ण जैसे पुरानी घटनाओं को वर्तमान में जी रहे थे, “ऐसे में किसी की भी सहानुभूति यादवों के साथ होती; किसी की भी आत्मा कंस का नाश करने के लिए तड़प उठती। मैंने और मेरे साथियों ने पहले आर्थिक शोषण का विरोध करने के लिए ब्रज से दूध, दही, मक्खन और घी का यमुना पार जाना बन्द किया। ब्रज के वनों, यमुना तटों तथा पहाड़ियों पर सुरक्षा का संगठित प्रयत्न कर, उन्हें शत्रु धूम्य कर, गोधन के चरने का सुरक्षित प्रबन्ध किया। कंस द्वारा भेजे गए दुष्टों का वध किया। हम अत्याचार का विरोध तो करते, किन्तु अपनी सुरक्षा के लिए, कंस के सैनिकों के सम्भावित आक्रमण से बचने के लिए, सैनिक तथा अर्द्ध सैनिक संगठन न बनाते तो हम कंस का आतंक समाप्त करने में कभी भी सफल न हो पाते।”

“किन्तु कंस ने ब्रज पर सैनिक आक्रमण तो किया ही नहीं।” सुदामा बोले।

“हां ! उसने सैनिक आक्रमण नहीं किया। क्यों नहीं किया— यह तो वह ही जाने। किन्तु, मेरा अनुमान है कि अपने ही गौरव की एक जाति पर सैनिक आक्रमण उसे भी अनुचित लगा होगा। यादव सेनाओं की ओर से ही उसका विरोध होता। इस प्रकार का गृह-युद्ध वह नहीं चाहता होगा। कदाचित् उसने यह भी सोचा हो सकता है कि इस उत्पात के मूल में कृष्ण और बलराम ही हैं। यदि उन दोनों को समाप्त कर दिया जाए, तो कंस का विरोध समाप्त हो जाएगा। स्पष्टतः यह दुस्ताहस भी वह मथुरा में ही कर सकता था, ब्रज में नहीं। किन्तु, उसकी यह इच्छा भी पूरी नहीं हुई। मथुरा में हमें जो समर्थन मिला, उससे ही स्पष्ट था कि कंस का आतंक कितना भी हो, उसे प्रजा का समर्थन प्राप्त नहीं था। कंस का वध हो जाने पर कोई भी उसके पक्ष से सहने के लिए नहीं आया। सेनाएं खड़ी की खड़ी रह गईं; और सेनापति अपने स्थान पर पापाण-मूर्तियों के समान जमे रहे।”

“इन घटनाओं का तुम्हारे सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध?” सुदामाने पूछा।

“उसी ओर भा रहा हूँ !” कृष्ण गम्भीर थे, “कंस के अत्याचार के

धपेड़ों से अकर्मण्य, शोषित, पीड़ित और अपमानित यादव जातियां उठ खड़ी हुईं। उनका शोषण समाप्त हो गया। अब उनका निर्माण आरम्भ हुआ। जरासंध से संघर्ष हुए। आत्मरक्षा में समर्थ, परिश्रमी, उत्पादन में समर्थ ये जातियां जब कर्म करने पर आईं तो उत्पादन बढ़ा। धन-धान्य आया। द्वारका का राज्य स्थापित हुआ। शक्ति बढ़ी। सेनाएं संगठित हुईं। प्रत्येक यादव गृहस्थ सुखी और सम्पन्न हुआ; और परिणाम जानते हो क्या हुआ?" कृष्ण ने सुदामा की ओर देखा।

"क्या?"

"वही जो प्रत्येक समर्थ और शक्तिशाली व्यक्ति और समाज के साथ होता है।" कृष्ण चिन्तित स्वर में बोले, "वे लोग अब स्वयं कंस बनने की ओर अप्रसर हैं।"

"क्या?"

"हां सुदामा!" कृष्ण का स्वर कुछ उदास हो गया, "मुझे सूचना मिली है कि यादव युवकों की एक टोली एक ऋषि आश्रम में गई। उनके साथ एक गर्भवती युवती थी। वे युवक जानना चाहते थे कि उस युवती को पुत्र होगा या पुत्री। ऋषि ने ध्यान से देखा तो उनकी समझ में आ गया कि वह गर्भवती युवती एक तरुण है और वह था मेरा पुत्र सांब।..."

"इस उलझ में लड़कों को ऐसी बहुत-सी बातें सूझती हैं।" सुदामा बड़े संयमित ढंग से मुस्कराए, "यह उनकी क्रीड़ा है।"

"यह क्रीड़ा नहीं है।" कृष्ण बोले, "यह उन तरुणों का दम्भ है, प्रमाद है। अपने इस व्यवहार से वे यह प्रकट करना चाहते हैं कि ऋषि-मुनी-तपस्वी उनके उपहास के पात्र हैं। उनका ज्ञान, उन युवकों के लिए मनोरंजन का साधन है।... और यह सब कर रहा है सांब! कृष्ण का पुत्र। उस कृष्ण का, जिसने सदा ऋषि-मुनियों के चरण धोए हैं।"

"तुम सांब को प्यार से समझा दो," सुदामा बोले, "वह समझ जाएगा।"

"बात केवल सांब की नहीं है। बात सारी यादव जाति की है।" कृष्ण कही दूर देख रहे थे, "धन, सत्ता और शक्ति से प्रमाद हो जाता है और व्यक्ति हो अथवा समाज—प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ने पर तत्पर हो जाता है। इस समय मुझे चिन्ता है, इस विश्वविजयिनी यादव सेना

की, कि इसे कहीं अभिशाप न लगे। मैं सच कहता हूँ सुदामा !” कृष्ण का स्वर आवेशपूर्ण था, “यदि यादवगण शीघ्र ही न संभले तो इनका नाश हो जाएगा। प्रकृति का चक्र, जिसे नीचे से ऊपर ले जाता है, उसे ऊपर से नीचे भी ले आता है।... और यदि ऐसी स्थिति आ ही गई तो मैं स्वयं ही: यादवों की अपनी इस नारायणी सेना को नष्ट कर दूंगा...”।

सुदामा ने चकित होकर कृष्ण की ओर देखा, “क्या कह रहे हो ?”

“ठीक कह रहा हूँ मित्र !”

“आप तो सदा ही ठीक कहते हैं प्रिय।”

कृष्ण ने दृष्टि उठाकर देखा : सामने रुक्मिणी खड़ी थी। वे मुस्कराए, “क्या बहुत देर हो गई ?”

रुक्मिणी हंसी, “बैसे तो ऐसी कोई बहुत देर भी नहीं हुई, पर घर आए मित्र की अभ्यर्थना ऐसे ही की जाती है क्या ?”

“क्यों ? क्या हुआ ?” कृष्ण ने पूछा।

“हुआ क्या ! बातें ! बातें !! बातें !!!” रुक्मिणी बोलीं, “मित्र को भोजन नहीं कराना, कही धूमने नहीं ले जाना, किसी से मिलाना भी नहीं। यहां तक कि हमें भी थोड़ी-सी बातचीत का अवसर नहीं दिया। आपका रथ द्वारका से चलता है तो इन्द्रप्रस्थ पहुंच कर ही सकता है; और बात आरम्भ होती है तो भक्ति योग, ज्ञानयोग से होती हुई, कर्मयोग तक पहुंचकर ही रहती है।”

“सुदामा !” कृष्ण हंस पड़े, “मैं तुमसे बातें करता रहा तो तुम्हारी भाभी को काफी देर तक चुप रहना पड़ा है।”

रुक्मिणी भी हंसी, “भाभी की वाचालता का बखान न करें। आपको पता भी है, सारी द्वारका में अवंडर-सी यह सूचना धूम रही है कि श्रीकृष्ण के कोई मित्र आए हैं और श्रीकृष्ण उनके साथ वार्तालाप में ऐसे मग्न हैं कि सारा राज-चक्र रुक गया है। ऐसे तो आप अपनी नव-विवाहिता पत्नी को लाकर भी मग्न नहीं हुए थे...”।

“भाभी ! सारा दोष कृष्ण का ही नहीं है।” सुदामा के लिए बीच-बचाव आवश्यक हो गया, “मैं भी कुछ ऐसा ही बातूनी हूँ। गुरुकुल में भी मैं और कृष्ण ऐसे ही घंटों बातें किया करते थे।”

“वह तो ठीक है देवरजी !” रुक्मिणी का तेज, तनिक भी कम नहीं हुआ था, “अब श्रीकृष्ण अकेले नहीं हैं। गुरुकुल के दिनों जैसे मुक्त भी नहीं हैं।” उन्होंने रुककर कृष्ण को देखा, “अब तनिक उठिए। ऋतु बड़ी सुहावनी है। बाहर स्रुची हवा में थोड़ी देर उद्यान में बैठीए। कुछ और लोग भी आपकी ज्ञान-चर्चा में सम्मिलित होना चाहते हैं।”

“चलो उठो मित्र !” कृष्ण ने दयनीय-सा चेहरा बनाया, “महारानी के सामने कभी किसी की चली है कि हमारी चलेगी। हम तो सदा उनके आदेशों का ही पालन करते आए हैं। एक ग्वाला, राजकुमारी के आदेशों का पालन करने के सिवाय और कर ही क्या सकता है।”

“राजशिरोमणि इस ग्वाले ने कब-कब मेरे आदेशों का पालन किया ?” रुक्मिणी ने उन्हें धृष्ट से देखा।

“पहली बार तो तब किया था, जब महादेवी ने ब्राह्मण भेजकर आदेश दिया था कि विदर्भ की राजकुमारी का हरण कर लाऊं।”

“हां! हां!! आप तो पहले ही दिन से मेरे आज्ञाकारी हैं।” रुक्मिणी हंस पड़ी, “और उसी आदेश का पालन करने के लिए नव-विवाहिता को सोई छोड़ कर, स्वयं सागर के तूफान में से यादवों के जल-पोतो को बचाने चल दिए थे।”

“अब समझे सुदामा! नव-विवाहिता को लाकर मान न होने का प्रसंग ?” कृष्ण मुस्कराए, “तब का उपासम्भ आज दिया जा रहा है।”

## वारह

रात के भोजन के पश्चात् जब कृष्ण और सुदामा अकेले हुए तो सुदामा बोले, “कृष्ण! तुम्हारी बातें मेरे मन में उमड़ती-धुमड़ती हैं तो कुछ प्रश्न उठते हैं।”

“तो अच्छा, ही है।” कृष्ण बोले, “बहुत नीद न आई हो, तो उन्हीं प्रश्नों के विषय में बातचीत कर लें।”

“हां ! मैं सोच रहा था,” सुदामा बोले, “यदि एक उद्योगपति अपने श्रमिक से कहता है कि वह कर्म करे, फल की कामना न करे, फल उसे भगवान देगा, तो क्या तुम्हारा सिद्धांत वहां श्रमिकों के शोषण का कारण नहीं बन रहा। निष्काम कर्म का अर्थ क्या हुआ ? क्या खेत-कम्पकर भूस्वामी से अपने परिश्रम के लिए अधिक पारिश्रमिक न मांगे ? ईंटें ढोने वाला श्रमिक भवन-निर्माता से उचित पारिश्रमिक न मांगे ?”

कृष्ण मुस्कराए, “मैं कहता हूँ कि श्रमिक, खेत कम्पकर, ईंटें ढोने वाला भारिक अपना पारिश्रमिक तय करके काम करे। पर जब पारिश्रमिक तय हो जाए तो श्रमिक कुदान या हल चलाने में, ईंटें ढोने में निष्काम कर्म का सिद्धान्त स्वीकार करे। निष्काम कर्म का अर्थ और कुछ भी नहीं है, सिवाय इसके कि व्यक्ति, जब जो कार्य कर रहा हो, उसे किसी अन्य वस्तु का साधन न मानकर, उस कार्य को भी अपना साध्य माने, उसमें मन लगाए। ऐसे में प्रकृति उसे उसके कर्म का उसकी अपेक्षा से अधिक फल देगी।” कृष्ण ने हककर सुदामा को निहारा, “भूस्वामी अपना भवन-निर्माता, यदि श्रमिक के शोषण के लिए निष्काम कर्म की बात करता है, तो वह एक प्राकृतिक संस्य को अपने स्वार्थ के अनुसार, विकृत आदर्श बनाने का प्रयत्न कर रहा है। अर्थात् प्रकृति मनुष्य के कर्म का फल देती है। उस फल से एक मनुष्य को वंचित करने के लिए दूसरा मनुष्य पट्टेबन्ध करता है। प्रकृति के दिए हुए फल के वितरण में बंधना न ही, इसके लिए मानव-समाज को उचित रूप में संगठित करना होगा। यदि समाज द्वारा यह कर्म नहीं होगा तो उस अकर्म का दंड प्रकृति अवश्य देगी।” “तुमने कुछ थोड़ा-बहुत गणित तो पढ़ा ही होगा !”

“हां ! क्यों नहीं !” सुदामा बोले, “थोड़ा-बहुत तो पढ़ाता भी हूँ।”

“तो मित्र ! उसमें क्या ऐसा नहीं होता कि गणितज्ञ को यह देखना पड़ता है कि किस समस्या को सुलभाने के लिए गणित की कोन-सी विधि सागू होगी ?”

“हां ? विधि की खोज तो पहला काम है।” सुदामा की उत्सुकता कुछ प्रखर हो आई थी।

“यदि एक व्यक्ति विना सोचे-समझे प्रत्येक समस्या को सुलभाने के



लिए, एक ही विधि का उपयोग करे, और समस्या सुलझा न पाने के कारण स्वयं अपने-आप पर और दूसरों पर झुल्लाए तो उसे क्या कहोगे?"

"मूर्ख !" सुदामा ने उत्तर दिया ।

"वैसे ही एक प्राकृतिक नियम को विना सोचे-समझे प्रत्येक स्थान पर लागू करना मूर्खता है ।" कृष्ण बोले, "बड़ी सीधी-सी बात है कि जब भूस्वामी अथवा भवन-निर्माता अथवा कोई भी ऐसा व्यक्ति श्रमिक को उचित और न्याय-संगत पारिश्रमिक न देकर, उन्हें विकृत आदर्शों में उलझा कर न्याय का पाखंड करता है, तो वह पशु-वृत्ति से परिचालित, अपने स्वार्थ से निर्देशित, अपने लिए असंतुलित परिग्रह का कार्य कर रहा है । अतः वह दूसरों को उनके न्याय-संगत अधिकार से वंचित कर रहा है । यह प्रकृति के संतुलन को बिगाड़ने का प्रयत्न है । अतः श्रमिकों के मन में उठने वाला आक्रोश सत्य है; और प्रकृति के नियमों के अनुकूल है । ऐसे में उन्हें अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर प्रकृति का संतुलन स्थापित करना होगा ।"

"तुम्हारा अभिप्राय है कि श्रमिक द्वारा उचित पारिश्रमिक की इच्छा, तुम्हारे कर्म सिद्धांत के विरुद्ध नहीं जाती ?" सुदामा ने प्रायः सहमत होते हुए कहा ।

"एकदम नहीं ।" कृष्ण जैसे-अपने पिछले क्रम में ही बोलते जा रहे थे, "कर्म के समग्र रूप को समझना होगा । परिश्रम उस कर्म का एक खंड है, उचित सामाजिक और आर्थिक संबंधों का निर्माण उसका दूसरा खंड है ।" कृष्ण क्षण भर रुककर, सहसा बोले, "निष्काम कर्म के अनेक आयाम हैं । यह वस्तुतः व्यक्ति के स्वार्थ को संयत करने का प्राकृतिक सिद्धांत है । मैं मानव-निर्मित आदर्शों की बात नहीं कर रहा हूँ सुदामा ! मैं प्रकृति के सत्य की बात कर रहा हूँ...।"

"मैं समझ रहा हूँ ।" सुदामा बोले ।

"तुरंत फल पाने की अपनी आतुरता में मनुष्य सदा ही कम पाता है ।" कृष्ण बोले, "तुम्हें कोई कहे कि एक पत्र लिख दो, उसके बदले मे धन की एक निश्चित राशि दूंगा । और तुम उम राशि के सोभ में पत्र लिखने बैठ जाओ । दूसरा कहे कि मेरी प्रशस्ति लिख दो तो इतना धन दूंगा, तो

तुम उसकी प्रशस्ति लिखने बैठ जाओ। यदि इसी प्रकार तुरंत फल की इच्छा लिए तुम जीवन भर अपनी लेखनी चलाते रहो तो तुम्हें क्या मिलेगा ?”

“धन की एक निश्चित राशि ?”

“तब क्या तुम दर्शनशास्त्र का ग्रंथ लिख पाओगे ?”

“नहीं।”

“यश और ख्याति अर्जित करोगे ?”

“नहीं ?”

“तुम्हारी रचनाएं अमर होंगी ?”

“नहीं।”

“और यदि ध्यान से देखा जाए तो मेरी मान्यता है कि तुम्हें धन की दृष्टि से भी निष्काम भाव से लिखा गया दर्शन ग्रंथ हानि में नहीं रहने देगा।...और सुदामा !” कृष्ण की दृष्टि शून्य में खो गई, “व्यक्ति की दृष्टि और उसके नाप की कसौटी बहुत संक्षिप्त है। बहुत छोटी है। वह सब कुछ तत्काल अपने लिए ही चाहेगा तो मानवता का कल्याण कभी नहीं होगा। हमें अपने ‘स्व’-का विस्तार करना होगा। हमें अपने समाज ही नहीं संपूर्ण मानवता की दृष्टि से सोचना होगा—अपनी ही पीढ़ी नहीं, अगली पीढ़ियों के विषय में भी सोचना होगा।” वे जैसे किसी और लोक का भ्रमण कर लौट आए थे, “स्वार्थी बहुत दूरदर्शी नहीं होता। वह स्वयं को चतुर समझता है, किंतु होता वह भ्रूख ही है। जिन्होंने अन्यायपूर्वक, अधर्म से धन का परिग्रह कर लिया है—वे समझते हैं कि उन्होंने एक शक्ति अर्जित की है। पर वे यह नहीं समझते कि वस्तुतः उन्होंने जिन्हें वंचित किया है, उनकी शत्रुता ही अर्जित की है। उनकी अगली पीढ़ी उस संचित धन के कारण आलसी, विलासी और शोषक होगी। ऐसे लोग प्रकृति का संतुलन बिगाड़ते हैं, अतः प्रकृति उनका अस्तित्व नहीं चाहती। जब यह असंतुलन बहुत बढ़ जाता है—प्रकृति के लचीलेपन से भी आगे तक—तो मानवता उनका नाश कर देती है। इसका प्रमाण विभिन्न जातियों, समाजों और परिवारों की पीढ़ियों का इतिहास है। आवश्यक नहीं कि यह सब कुछ, एक व्यक्ति अपने ही जीवन-काल में देख सके। प्रकृति की इकाई,

मनुष्य की इकाई से बहुत बड़ी है...।”

“अच्छा ! इसे छोड़ो । मुझे एक बात बतानी ।” सुदामा ने सहसा बातों की दिशा मोड़ दी ।

“पूछो ।”

“तुम्हारे कर्म के सिद्धांत से तो कर्म करने पर ही फल मिलना चाहिए । तुमने कर्म के फल के साथ-साथ प्रायः सदा ही अकर्म के दंड की बात की है ।” सुदामा बोले, “पर कभी-कभी ऐसा भी तो होता है कि पंडित, दार्शनिक, विद्वान्, कवि-कोविद, कलाकार, ऋषि-मुनि लोग निर्धनता से लड़ते-लड़ते एक जाते हैं और एक दिन किसी राजाधिराज के दरबार में जा पहुंचते हैं । वह प्रसन्न होकर, उन्हें इतना धन दे देता है कि उनका जीवन भर का दारिद्र्य समाप्त हो...” सहसा सुदामा चेतें, कहीं कृष्ण यह तो नहीं समझेगा कि सुदामा उससे धन मांग रहे हैं...अनेक बार सुदामा अपने शब्दों के चुनाव से खीझ उठते हैं । वे जो नहीं कहना चाहते, वही अर्थ ध्वनित होने लगे और दूसरा उसका कोई और अर्थ समा से तो दोष दूसरे व्यक्ति का तो नहीं है, “मेरा अभिप्राय है कि बिना कर्म के ही उन्हें फल की प्राप्ति हो रही है...।” सुदामा समझ नहीं पाए कि वे, अब भी अपनी बात को बांछित दिशा में मोड़ पाए हैं या नहीं ।

“तुम्हारा कहना यथार्थ है ।” कृष्ण कुछ उदास स्वर में बोले, “मैं इस प्रवृत्ति के विषय में सोचकर, अनेक बार चिंतित हो उठता हूँ । जिस वर्ग के लोगों की तुमने बात की है, उनमें से अधिकांश ऐसे ही हैं, जो उत्पादन की बात नहीं सोचते; उसके मन में याचना की बात उठती है । संभव है कि कुछ शासक लोग भी, आजीविका का साधन न देकर पुरस्कार, दान, सहायता... किसी भी नाम से धन की एक निश्चित राशि दे दिया करते हैं । इससे लोलुपता और पक्षपात को तो बढ़ावा मिलेगा, किंतु दारिद्र्य दूर होगा...।”

“वह एक अलग प्रश्न है,” सुदामा प्रसन्न थे कि कृष्ण, बात को उस ओर नहीं ले गया, जिसकी उन्हें आसंका थी । कृष्ण तो उसका विरोध ही कर रहा है । सुदामा स्वयं नहीं चाहते कि कृष्ण उन्हें याचक समझ ले, “पर कर्म-सिद्धांत वहां कैसे लागू होगा ?”

“कर्म-सिद्धांत !” कृष्ण मुस्कराए। उनकी उदासी ही दूर नहीं हो गई थी, एक प्रकार का उल्लास उनके चेहरे पर प्रकट हो गया था। पहले वे अपने मन की एक चिंता व्यक्त कर रहे थे; और अब एक चुनौती का सामना कर रहे थे, “यदि स्थिति यह हो कि शासक न्याय-बुद्धि से, बिना सामना कर रहे थे, बिना किसी अपेक्षा के किसी योग्य विद्वान् को बिना उसके प्रयत्न किए, धन देता है तो मैं यह मानता हूँ कि वह उसके निष्काम कर्म का फल है। उसका कर्म अपने में इतना सिद्ध हो चुका है कि पारिश्रमिक के अनुपात का नियम बीच से हट गया है और उसे अपेक्षा से अधिक फल मिल रहा है...।”

“और यदि राजा न्यायी नहीं है या विद्वान् और योग्य नहीं है तो ?” सुदामा बोले, “जैसा कि सामान्यतः होता है। योग्य विद्वान् एकांत में जीवन भर श्रम करते रहते हैं। वे राजदरबारों की चौखट भी नहीं देखते और अयोग्य लोग, उन दरबारों में बार-बार सम्मानित होते हैं।”

“ऐसी स्थिति में उसके अनेक रूप हो सकते हैं।”

“जैसे ?”

“एक रूप तो यह है कि वह धनराशि शासक द्वारा दिया गया, तथा-कथित विद्वान् की चाटुकारिता का पारिश्रमिक है।” कृष्ण मुस्कराए, “चाटुकारिता भी तो कर्म है, अत्यन्त कठोर कर्म। उसमें व्यक्ति अपनी बुद्धि के अपव्यय और स्वाभिमान के दमन का श्रम करता है। तुम यह श्रम नहीं कर सकते सुदामा !” कृष्ण सिलसिला कर हंस पड़े।

“मैं तुम्हारे इस वाक्य को अपनी प्रशस्ति मानता हूँ।” सुदामा भी हंसे।

“प्रशस्ति के रूप में ही कह रहा हूँ भाई।” कृष्ण बोले, “दूसरी स्थिति यह है कि वह विद्वान् की दासता का अग्रिम मूल्य है। उस धन को ग्रहण कर वह विद्वान् अपने भविष्य की दासता पर हस्ताक्षर करता है। हम किसी जीव-जन्तु को पालते हैं तो उसका पेट भरने का प्रबंध भी करते हैं।” कृष्ण की मुस्कान सहसा लुप्त हो गई, “और तीसरी स्थिति...।” सुदामा ने उत्सुक दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा।

“और तीसरी स्थिति, प्रजा के धन की लूट का संभाग है।” कृष्ण

बोले, "राजा के पास जो धन है, वह प्रजा की परोहर है। उसे व्यय करने का अधिकार राजा को तब ही है, जब उस व्यय से प्रजा का लाभ होता है। उसे राजा उन्हीं लोगों में वितरित कर सकता है, जो प्रजा के कल्याण के लिए कार्य करते हैं। यदि ऐसा नहीं है तो यह प्रजा के धन का अपहरण है। उस अपराध के लिए राजा तथा उन तथाकथित विद्वानों—दोनों का ही दंडित होना उचित है।" कृष्ण ने रुककर सुदामा को देखा, "और मैं तुमसे सत्य कहता हूँ मित्र ! प्रजा अपने धन के इस अपहरण को अधिक देर नहीं सहती। अपहरण का राजा के शासनकाल से त्रानुपातिक संबंध है। अपहरण जितना बढ़ेगा, शासनकाल उतना ही संक्षिप्त हो जाएगा। यस्तुतः यह राज-कर्म नहीं चोरी है, चौर्य कर्म। कंस ने यही चौर्य कर्म किया था, उसका शासन कितने कम समय में पराशायी हो गया। दुर्योधन यही कर रहा है—उसका शासन भी अधिक नहीं टिकेगा।"

सुदामा को लगा, उन्हें कंस और दुर्योधन में रुचि नहीं है। उसकी अपनी समस्या का समाधान प्रायः हो चुका था। कृष्ण का बल उत्पादन पर है, ग्रहण पर नहीं। ऐसी स्थिति में सुदामा क्या अपेक्षा कर सकते हैं ? ...यह तो वे सोच कर ही आए थे कि वे कृष्ण से कुछ मांगेंगे नहीं। कृष्ण अपनी ओर से कुछ प्रस्ताव करता तो सुदामा उसे अस्वीकार न करते। किंतु, कृष्ण ने अपनी मनोवृत्ति स्पष्ट कर दी है, उसमें कहीं कोई ऐसा अवकाश ही नहीं है कि कृष्ण, सुदामा को कुछ दे सकें। ...

सहसा सुदामा का स्वाभिमान जागा : वे अपेक्षा ही क्यों कर रहे हैं ? वे याचक के रूप में तो यहां आए ही नहीं थे। ...पर भीतर ही भीतर सुदामा के मन में कोई मुस्करा रहा था : 'जब तक कुछ मिलने की आशा थी, तब तक स्वाभिमान का कोई प्रश्न ही नहीं उठा; और अब, जब मिलने की संभावना नहीं है, तो आपका स्वाभिमान जाग उठा है ...सच-मुच बड़े स्वाभिमानों हो ...' सुदामा दांत पीसकर रह गए।

"अच्छा भाई ! अब सोया जाए ! कल प्रातः ही यात्रा भी करनी है।" सुदामा बोले।

"पक्का है या कार्यक्रम में परिवर्तन हो सकता है ?" कृष्ण ने पूछा, "मैं तो अब भी कह रहा हूँ कि जल्दी मत मचाओ। पहले सप्ताह कुछ

सैनिक गुल्म उधर जाने वाले हैं। उन्हीं के साथ चले जाना। आराम से पहुंच जाओगे।”

पर मुदामा का मन पूरी तरह उखड़ चुका था। उन्हें कृष्ण के प्रस्ताव में कोई आकर्षण दिखाई नहीं पड़ा। वरन् उनके मन में एक भय-सा उग आया था : वे एक सप्ताह यहां ठहरकर क्या करेंगे ? कृष्ण से जो बातें होनी थी, हो गई हैं। अब नया कुछ नहीं होगा। राज-प्रासादों के-से इस वीभव में उनका अपना आत्मविश्वास कहीं खो गया था। सिवाय कृष्ण के, जैसे प्रत्येक व्यक्ति उन्हें याद दिलाता था कि मुदामा इस परिवेश के अंग नहीं हैं। वे बाहरी तत्व हैं और बाहर ही रहेंगे। “पर कृष्ण की मित्रता और प्रेम में तो उन्हें कहीं कमी नहीं लगी।” नहीं ! कृष्ण ने तो उन्हें अपना सहज सौहार्द दिया है। पर कृष्ण के जो गुण हैं, वे ही तो उसके दोष भी हैं। उसके सिद्धांत और उन सिद्धांतों के अनुकूल उसके कर्म...ये ही तो कृष्ण के गुण हैं। पर उन सिद्धांतों में तो कर्म-ही-कर्म है, उनमें याचना के लिए तो स्थान ही नहीं है। यहां तो कर्म-सिद्धांतों और कार्य-कारण के नियमों का निर्मम यंत्र चल रहा है...उसमें कृपा, दया अथवा ममता के लिए स्थान कहां है। मुदामा ने जो कर्म किए हैं, उनका फल उन्हें मिल ही रहा है; या जो नहीं मिला है, वह मिल ही जाएगा। इनके बीच कृष्ण की मैत्री क्या करेगी। “नहीं अब और रुकना व्यर्थ है।

उधर वैचारी सुशीला, अकेली, बच्चों को जाने कैसे संभालती होगी। सुविधा कोई है नहीं, असुविधाओं की कोई कमी नहीं है; और फिर विवेक और ज्ञान क्या कम उधमी हैं। वह भोजन की व्यवस्था करेगी, घर का काम देखेगी या बच्चों को संभालेगी। और फिर मुदामा जितने दिन यहां रहेंगे, सुविधाओं में रहेंगे; पर गांव के अपने उन छात्रों को पढ़ाएंगे नहीं...कृष्ण के अनुसार, कर्म नहीं करेंगे...तो उसका फल कैसे मिलेगा ? उनके परिवार के लिए भोजन की व्यवस्था कैसे होगी ? यहां से वे भोजन सामग्री, अपने परिवार की तो नहीं भेज सकते...

“नहीं कृष्ण !” वे धीमे स्वर में बोली, “अब मुझे जाने दो।”

“अवश्य जाना है ?” कृष्ण मुस्करा रहे थे।

“हां ? जाना ही है।”

“अच्छा तो दारुक से कहं दूंगा,” कृष्ण बोले, “रथ में छोड़ आया।”

“नहीं।” सुदामा को लगा, उनके भीतर खीझ जन्म ले रही है।... अब कृष्ण का दिया, उन्हें कुछ नहीं चाहिए। जब उन्हें अपना जीवन अपने ही उद्यम पर काटना है, अपने परिवार के साथ उसी अभावग्रस्त जीवन को जीना है तो कृष्ण की इतनी-सी कृपा को भी क्यों स्वीकार करें।... बल्कि अब यदि कृष्ण अपनी उदारता दिखाने का प्रयत्न करेगा तो उससे उन्हें सनिक भी प्रसन्नता नहीं होगी... उल्टे खीझ ही जन्म लेगी। और यदि कृष्ण ने अधिक प्यार जताया तो उसी अनुपात में उनकी खीझ भी बढ़ेगी। संभव है कि उनका आत्म-संयम ठहर न पाए और वे कुछ ऐसा कह दें, जो उन्हें कहना नहीं चाहिए, “नहीं कृष्ण ! उसकी आवश्यकता नहीं है। मुझे पैदल चलने का पर्याप्त अभ्यास है।” वे रुके, “सच पूछो तो मुझे रथों की यात्रा का ही अभ्यास नहीं है। यह न हो कि रथ की यात्रा से लगने वाले भटको से आराम के स्थान पर मुझे कोई रोग ही मिले...” सुदामा ने बचाने का बहुत प्रयत्न किया, किंतु उनकी मुस्कान में थोड़ी कटुता आ गई।

“जैसी तुम्हारी इच्छा।” कृष्ण ने बात आगे नहीं बढ़ाई। वे धादर ओढ़कर लेट गए, और जैसा कि सुदामा पिछली रात भी देख चुके थे, कृष्ण लेटते ही सौ भी गए।

किंतु सुदामा को नींद नहीं आई। कृष्ण बात को आगे बढ़ाते तो सुदामा के मन में आंक्रीश जागता, पर कृष्ण के चुपचाप सो जाने से भी तो उनका मन शांत नहीं हुआ था। उथल-पुथल तो उसमें अब भी थी।... आखिर किस बात से खीझ रहे थे सुदामा ? वे घर से तय करके चले थे कि वे कृष्ण से याचना नहीं करेंगे। उन्होंने याचना नहीं की। अब यदि उन्हें कुछ नहीं ही मिला तो उसमें रोप की क्या बात है ? क्यों रुट हैं वे कृष्ण से ? ...

सुदामा अपने मन का साक्षात्कार कर रहे थे : उन्होंने याचना नहीं की थी, किंतु वे कृष्ण से कुछ पाने के लिए ही आए थे... दार्शनिक ज्ञान नहीं, धन ! धन... जिससे जीवन की सुविधाएं प्राप्त होती हैं। मुख से

उन्होंने चाहे स्वीकार न किया हो; किंतु द्वारका की यात्रा का कष्ट उन्होंने इमीलिए तो उठाया था।\*\*\*द्वारका पहुंचने पर, कृष्ण के सेवकों ने उन्हें प्रासाद में धुसने न दिया होता, कृष्ण ने उन्हें पहचाना न होता, पहचानने के पश्चात् भी केवल औपचारिक व्यवहार किया होता, यह आत्मीयता न दिखाई होती तो शायद सुदामा को इतना कष्ट न होता।\*\*\*पर कृष्ण की उस आत्मीयता, उस मैत्री और सौहार्द ने सुदामा के मन में आशाओं-आकांक्षाओं का एक मुनहसा संसार जगा दिया था। अपरिग्रही सुदामा को भी शायद वैभव का छुत्तहा रोग लग गया था। जब तक वे इससे दूर रहे थे, वैभव का यह सत्सार उनके लिए अनजाना था\*\*\*तब तक की बात और थी। सुदामा के मन में वैभव की आकांक्षा ही नहीं थी। पर यह आकर, इस वैभव को देखकर\*\*\*उनके मन में नई संवेदनाएं और नई भावनाएं जागी थी। सुदामा भी कृष्ण से कम दार्शनिक नहीं थे, पर कृष्ण के विचारों का महत्त्व इसलिए अधिक था, क्योंकि उसके पास इतना वैभव था, क्योंकि वह यादवों की राज-परिपद्-का सबसे अधिक प्रभावशाली सदस्य था।\*\*\*कृष्ण के लिए क्या कठिन था कि वह अपने इस वैभव का एक छोटा-सा अंश, सुदामा को दे देता। उसके गोठों में सैंकड़ों गाएं हैं। यदि सुदामा को दस-बीस गाएं ही मिल जाती, तो उनकी आजीविका का स्थायी सहारा हो जाता। गाएं न सही, थोड़ा सुवर्ण, कुछ मुद्राएं, या उनके ग्राम में गुरुकुल स्थापित करने की राजाज्ञा अथवा द्वारका के गुरुकुल में नियुक्ति\*\*\*कुछ तो करता कृष्ण। सुदामा ने सुना था पांडवों की राजधानी, इंद्रप्रस्थ के निर्माण के समय कृष्ण ने अपार सुवर्ण-कोश उन्हें दिया था।\*\*\*गोधन और अश्वों की तो कोई संख्या ही नहीं थी।\*\*\*पर पांडव तो कृष्ण के भाई हैं। उनके लिए तो आज भी तड़प रहा है:\*\*\*ऐसे ही तो लोग, कृष्ण को छलिया नहीं कहते। जहां अपना लाभ देखता है, वहां अपने प्राण लगा देता है। कोई कम राजनीतिज्ञ है वह\*\*\*पर, निर्धन और निरीह सुदामा से क्या मिलना है कृष्ण को। उन्हें कुछ देने का कष्ट क्यों करेगा कृष्ण! उन्हें तो-दर्शनशास्त्र की घोषी चर्चाओं में भी भ्रमाया जा सकता है\*\*\*वही, कर दिखाया कृष्ण ने\*\*\*'तुम दार्शनिक हो सुदामा! तो तो दर्शनशास्त्र की गांठ बांध कर से जाओ\*\*\*'



रात, अपनी उधेड़बुन में जाने सुदामा को कब नींद आई पर प्रातः उठने में उन्हें देर नहीं हुई। उन्होंने कुछ आश्चर्य से देखा : कृष्ण उनसे भी पहले उठ चुका था और इस समय कक्ष में नहीं था।

सुदामा के उठने का आभास पाकर, एक परिचारक कक्ष में आ गया।

“वासुदेव कह गए हैं कि आपके प्रस्थान से पहले आ जाएंगे।”

सुदामा के मन में रात की सारी कड़वाहट एक बार फिर से जाग उठी : आ जाएगा तो क्या, न आएगा तो क्या ! सुदामा को तो जाना ही है।

पर सुदामा ने स्वयं को संयत किया। इस कटुता का तो कोई कारण नहीं है। सुदामा याचक बनकर नहीं आए थे; ये याचक बनना नहीं चाहते थे। कृष्ण ने, कुछ न देकर, उन्हें याचक बनने से बचा लिया था। यदि कृष्ण की ओर से कुछ देने का प्रस्ताव होता, तो सुदामा अपने प्रलोभन को कैसे रोक पाते ! उनकी दुर्बलता प्रकट न हो जाती ? और फिर ग्रहण करते हुए उनकी स्थिति बिना याचना के भी तो वही होती... याचक की। कृष्ण की कृपण और स्वार्थी मानने के स्थान पर उन्हें उसका आभारी होना चाहिए कि कृष्ण ने उन्हें किसी घमंसंकट में नहीं डाला। सुदामा स्वयं को इतना स्वाभिमानी मानते हैं... क्या कृष्ण ने अब तक उनके स्वाभिमान की रक्षा नहीं की है ? क्या उसने मित्र के रूप में, सम-भाव से उनका स्वागत नहीं किया ? ठहराने, खिलाने-पिलाने और धुमाने में उसने उन्हें अपने परिवार के एक सदस्य का-सा महत्त्व नहीं दिया, दार्शनिक विवादों में क्या उसने उन्हें अपने बराबर का विद्वान् और समझदार दार्शनिक नहीं माना ? ऐसे में वह अंत में उन्हें स्वयं से हीन मानकर, उन्हें कुछ धन देता हुआ, अच्छा लगेगा क्या ? सुदामा को चाहिए ही कितना ? उनके जीवन-भर के लिए जितना पर्याप्त हो, उतना धन देते हुए, कृष्ण को पता भी नहीं लगेगा... पर सुदामा अवश्य छोटे हो जाएंगे। मनुष्य किसी भी भाव से दे, या किसी भी भाव से ले, लेने वाले को छोटा बनना ही पड़ता है। कृष्ण ने वस्तुतः उनके स्वाभिमान की रक्षा की है...

कृष्ण ने जो भी किया हो, सुदामा ने सोचा, अच्छा या बुरा... अब इस विदा के समय अकारण ही रुष्ट होकर चले जाने का क्या लाभ ?

जीवन में वैसे ही क्या कम कटुताएं हैं, कि जिन कुछ छोड़े लोगों के साथ कुछ मधुर संबंध हैं, उन्हें भी मन के किसी आवेश में आकर नष्ट कर दिया जाए। सुदामा का सारा चिंतन, जीवन को समृद्ध बनाने का है, उसे वंचित करने का नहीं..."

सुदामा, कृष्ण को सर्वथा भूलकर यात्रा की तैयारी करने लगे, जैसे वे कृष्ण के महल में न होकर अपने ही घर में हों। ऐसे में उन्हें यह जानने की आवश्यकता नहीं थी कि कृष्ण कहां गया है? क्यों गया है? कब आएगा? कृष्ण का संबंध उनके समान केवल अपने लेखन-पठन से ही नहीं है। उसे अपने परिवार को देखना होता है, अपने पशुओं को देखना होता है, शासन के कार्य संभालने होते हैं, सेनाओं का ध्यान रखना पड़ता है, सुदामा नहीं जानते कि यादवों के व्यापार से कृष्ण का कितना संबंध है। सुदामा का अपना संसार क्या है: सुशीला, ज्ञान, विवेक और उनकी पोथियां..."

सुदामा के मन में विचारों का प्रवाह चलता जा रहा था; किंतु उनकी आंखों और कानों ने भी बाह्य वातावरण में कुछ नयापन अनुभव किया था। नेपथ्य में बजते हुए संगीत के समान कृष्ण के महल में कहीं न स्त्री से लगातार आदेश देने के स्वर आ रहे थे। बड़ी संख्या में घोड़े और मय आ और जा रहे थे। उनके आने-जाने की गति सहज नहीं थी। यह वातावरण तो गृहस्थी अथवा सहज सामाजिक गतिविधियों का नहीं था। संभवतः किसी बड़े अभियान की तैयारी थी। तभी तो कृष्ण सुबह ही उठ कर कहीं चला गया था। पता नहीं यह व्यक्ति अपनी पत्नियों और बच्चों के लिए कब समय निकाल पाता होगा... पर खैर! सुदामा को क्या..."

कृष्ण आए तो सुदामा जाने को प्रायः तैयार थे।

कृष्ण उनकी ओर देखते रहे, "सचमुच तैयार हो?"

"हां! क्यों?" सुदामा ने पूछा।

"कुछ दिन और नहीं रुक सकते?"

सुदामा डर गए: बड़ी कठिनाई से दबाई हुई उनकी सीम कहीं फिर से उभर न आए। कृष्ण के इस आग्रह से उन्हें तनिक भी प्रसन्नता नहीं

हुई थी। जाने, मन कैसा उचाट हो गया था कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता था, उनके भीतर व्यर्थता का बोध तीव्रतर होता जाता था। उनके भीतर उच्छ्वलता और संयम का युद्ध चल रहा था। वे अपने-आपसे ही लड़ रहे थे, ऐसे में किसी पर भ्रल्ला कर कुछ कटु-कठोर कह देना, उनके लिए बहुत असहज न होता, पर असोमनीय तो होता ही।

“रुककर क्या होगा कृष्ण ?” वे बोले, “जितना समय तुम्हारे पास रहा, वह समय बहुत सुखद बीता। पर सहसा ही मेरा घर-द्वार मुझे पुकारने लगा है। मेरी आजीविका, मेरा अधूरा लिखा ग्रंथ... मैं कितने दिनों तक उन्हें भूल सकता हूँ ? तुम्हारी संगति के सुख में तो उन्हें भूला बैठा रहा; पर अब एक बार उनका स्मरण हो आया है, तो अब और मुलाना कठिन है...”

कृष्ण कुछ चिंतित से खड़े रहे और फिर बोले, तुम ठीक कहते हो मित्र ! तुम्हारा धर्म तुम्हें पुकार रहा है; और तुम अपने व्यक्तिगत सुख-संतोष के सामने, अपने धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकते।” कृष्ण रुके। स्पष्ट लग रहा था कि उनके मस्तिष्क में, एक नहीं अनेक बातें थी। शरीर से सुदामा के सामने खड़े हुए भी, उनका मन और आत्मा, जाने कहां-कहां पहुंचे हुए थे। सुदामा की न तो वैसे प्रकृति थी, न वे इतने विभिन्न स्थानों पर उलझे हुए थे। कृष्ण के जीवन को जितना सुदामा ने देखा था... उतना व्यस्त भाग-दौड़ का सार्वजनिक जीवन सुदामा ने अपने लिए कभी नहीं चाहा था। सुदामा वैसे जीवन के लिए बने ही नहीं थे। इस सुख-संपत्ति और वैभव के साथ भी यदि सुदामा को कृष्ण का यह जीवन मिलता, तो वे पागल हो जाते। सुदामा को कृष्ण का यह जीवन नहीं चाहिए...

“तुम सोच रहे होगे कि तुम्हें आज जाना था और मैं प्रातः उठकर कहीं ओर चला गया,” कृष्ण बोले, “वस्तुतः मेरा मन और तन, दोनों ही इस समय बड़ी भाग-दौड़ में हैं। एक ओर तुम्हारे साथ अधिक से अधिक समय व्यतीत करने का मोह नहीं छोड़ पा रहा हूँ। तुमसे अभी जो भर कर बातें भी नहीं हुई हैं। इच्छा होती है कि गुरुकुल में बिताए काल के ही समान, हम दोनों किसी एकांत वृक्ष की शाखाओं में छिपकर जा बैठें और फिर वन के फलों को चबाते हुए घंटों तक अपनी बातें करते रहें; पर

लगता है कि अब कभी वैसा निर्दिष्ट जीवन नहीं मिलेगा...।”

पहली बार सुदामा का ध्यान, अपने संसार से निकलकर कृष्ण तक पहुंचा, “क्या बात है कृष्ण ? इंद्रप्रस्थ से...पर पांडवों का राज्य और उनका स्वातंत्र्य तो उन्हें लौटा दिया गया था।”

“हां !” कृष्ण मुस्कराए, “पर फिर कुछ चिंताजनक समाचार आए हैं।”

यह व्यक्ति चिंताजनक समाचारों की बात भी मुस्कराकर करता है।...सुदामा ने सोचा फिर पूछा, “क्या समाचार है ?”

“पांडवों को इंद्रप्रस्थ के मार्ग से ही लौटाकर धृतराष्ट्र ने उन्हें फिर से एक बार चौपड़ खेलने का आदेश दिया था...।”

“फिर एक बार !” सुदामा चकित थे, “इतना कुछ हो जाने के बाद भी ?”

“हां !” कृष्ण बोले, “इतना कुछ हो जाने के बाद भी...इस बार एक-एक वस्तु दांव पर नहीं बंदी गई। एक ही दांव खेला गया कि जो पक्ष हार जाए, वह बारह वर्षों तक अपना राज्य छोड़कर वनवास करे। बारहवां वर्ष अज्ञातवास का हो। अज्ञातवास की अवधि में यदि स्वयं को गुप्त न रख सके तो पुनः बारह वर्षों के लिए वन में चला जाए।”

“तो ?” सुदामा को लगा उनका स्वर कंठ में फंस रहा है, “युधिष्ठिर फिर हार गए क्या ?”

“शकुनि के विरुद्ध खेलकर तो वैसे ही हारना होता है; और युधिष्ठिर तो स्वयं ही हारने पर तुले हुए हैं।” कृष्ण बोले, “पांडव वनवास के लिए चल पड़े होंगे।” कृष्ण रुके, “भुझे जाकर उनसे मिलना है। सुभद्रा और अभिमन्यु...।”

सुदामा, कृष्ण की मनस्थिति समझ रहे थे : कृष्ण के सामने इस समय कोई दार्शनिक समस्या नहीं, व्यावहारिक समस्या थी। पांडव उसके भाई थे। अर्जुन उसका भाई, वहनोई और मित्र था। स्वयं सुभद्रा और अभिमन्यु...।

सुदामा जैसे कुछ स्वस्थ हो आए। उनका आत्मविश्वास भी जाग उठा था : कृष्ण के उस व्यापक संसार में, जो द्वारका से इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर

कांपत्य और मथुरा ही नहीं, वाराणसी, गिरिव्रज और प्राग्ज्योतिषपुर तक फैला हुआ था...सुदामा का अंश बहुत छोटा था। फिर भी कृष्ण ने बहुत दिया...

“अच्छा मित्र !” सुदामा पहली बार कृष्ण से कुछ बड़े होकर बोले, “तुम सुभद्रा की सुध लो...”

“सुध तो मुझे उन सबकी लेनी है।” कृष्ण बोले, “कृष्णा मेरे लिए सुभद्रा से कम नहीं है। पर वह न मेरे साथ द्वारका आएगी, न धृष्टद्युम्न के साथ कांपित्य जाएगी। वह अपने पतियों के साथ ही रहेगी। सोचता हूँ, सुभद्रा और अभिमन्यु को अपने साथ ले आऊँ। तेरह वर्षों के इस वनवास और अज्ञातवास में अभिमन्यु का शिक्षण नहीं हो पाएगा और बच्चों के साथ पांडवों को भी कठिनाई होगी।”

“ठीक है। तुम उन्हें देखो।” सुदामा बोले, “मैं चलता हूँ।”

“इस समय परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि मैं तुम्हें छोड़ने के लिए सुदामापुरी नहीं जा सकता...”

‘सुदामापुरी’...सुदामा मन-ही-मन हंसे...‘कौन पुकारेगा उसे सुदामापुरी?’

“पर मेरी धात मानो,” कृष्ण बोले, “दारुक को ले जाओ। वह तुम्हें छोड़ आएगा।”

“क्या आवश्यकता है।” सुदामा स्पष्ट आत्मबल से बोले, “मैं तो पैदल चलने का अभ्यस्त हूँ। आज तक जितनी यात्राएं की हैं, पैदल ही की हैं। और फिर मुझे तो जाना भी,” सुदामा हिनके, वे अपने गांव को सुदामापुरी नहीं पुकार सकते, “अपने गांव तक ही है। तुम्हें कहां तक जाना है... इन्द्रप्रस्थ या हस्तिनापुर? दारुक की तुम्हें आवश्यकता होगी।”

स्पष्ट लग रहा था कि कृष्ण अपनी समय संपूर्णता में सुदामा के सामने नहीं थे; या वे वहा भी थे और शायद इन्द्रप्रस्थ में भी थे...

सत्यभामा और जाम्बवती, सुदामा को कक्ष में ही प्रणाम कर गई थी। रुक्मिणी उन्हें विदा करने के लिए, बाहरी द्वार तक आईं, किंतु कृष्ण नहीं माने। वे स्वयं रथ हाकते हुए, सुदामा को द्वारका के द्वार तक लाए।

“अच्छा ! अब तुम चला ।” सुदामा रथ से उतरते हुए बोले ।

“अच्छा मित्र !” कृष्ण भी रथ से उतर आए, “तुम्हारे साथ बिताया गया यह समय, मेरे जीवन में, घूप में भाग-दौड़ करते हुए, मार्ग में किसी वृक्ष के नीचे छाया में सुखद विश्राम के समान था । पर शायद इस बार इतना ही संभव था ।”

कृष्ण ने सुदामा को आलिंगन में बांध लिया । कुछ क्षणों तक वे दोनों वैसे ही खड़े रहे, जैसे संसार की सारी गतियां चम गई हों । “और फिर वे अलग हुए । कृष्ण रयारूढ़ हुए । स्नेह और विषाद की एक मिश्रित दृष्टि, सुदामा पर डाली और धोड़े मोड़ लिए ।

## तेरह

कृष्ण दृष्टि से ओझल हो गए तो सुदामा जैसे आपे में आए ।

कृष्ण ने कहा था कि उनके जीवन में सुदामा के साथ बिताया गया यह समय, शीतल विश्राम का समय था ; पर सुदामा के लिए यह समय तो जैसे किसी और लोक में बिताया गया समय था । जैसे कोई सुहाना सपना देखा हो, जिसमें व्यक्ति की सारी मनोकामनाएं पूरी हो जाएं ।

पर अब वह स्वप्नमग्न हो गया था । सुदामा, अब सुदामा मात्र थे, पहले जैसे । एक निर्धन, दार्शनिक ब्राह्मण, जिसे अपने पगों से तीन दिनों का मार्ग नापना था और तब जाकर देखना था कि उनकी पत्नी और बच्चों पर इन पिछले सात-आठ दिनों में क्या बीता है । जिस प्रकार सुशीला ने उन्हें घर से विदा किया था, उससे यह तो नहीं लगता था कि वह उनकी अनुपस्थिति में अपने और बच्चों के लिए अन्न भी नहीं जुटा पाएगी । इसलिए यह आशंका तो व्यर्थ थी—पर फिर भी कुछ कठिनाइयां हुई ही होंगी—और उनका वह ग्रंथ । उनका एक-एक पत्र उनकी बात जोह रहा होगा ।

वे कृष्ण की बात मान लेते और उसके रथ पर अपने पांव—सुदामा-

पुरी, हां सुदामापुरी—जा पहुंचते... इस नाम से सुदामा को कंसी तो फुरफुरी होने लगती थी। बुद्धिजीवी यश का कितना भूला होता है।... और इस से बड़ा यश और क्या हो सकता है कि उनके ग्राम का नाम, उन्हीं के नाम पर रखा जाए। अपने-आप ही सुदामा प्रसिद्ध हो जाएंगे...

उन्होंने अपने सिर को भटका—व्यर्थ की बातें सोचने का क्या लाभ! चुहल के लिए तो यह अच्छी बात है। उदव के कहने के अनुसार, प्रत्येक बुद्धिजीवी यह कल्पना कर से कि उसके नगर या गांव का नाम, उसी के नाम पर रखा जाएगा।... पता नहीं उदव की बात से कुछ होगा या नहीं, पर कृष्ण की बात मान लेते तो उससे कुछ होता-न-होता, वे शीघ्र घर जा पहुंचते... शीघ्र घर पहुंचते, सुख और आराम से... पर तब चलने का कर्म नहीं होता... तो तुम्हारा कर्म-सिद्धांत क्या कहता कृष्ण? उन्होंने अपनी कल्पना में कृष्ण से चुहल की।... और फिर वे सोचने लगे कि कृष्ण क्या कहता? हां! कृष्ण कहता, 'तुम्हें चलना पड़ा तो तुम्हें लगा कि तुम्हें चलने का कष्ट हुआ है, पर प्रकृति कर्म का फल देती है। तुम चले, तुम्हारे शरीर ने परिश्रम किया तो तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहा। तुम न चले होते, बिस्तर पर पड़े होते तो मोटे घुलघुल हो गए होते। रोगों का घर। श्रम, शरीर का धर्म है। अतः श्रम प्राकृतिक सत्य है। श्रम करने पर शरीर स्वस्थ रहेगा। मस्तिष्क से कार्य करने पर मस्तिष्क विकसित होगा। जोखिम भैलने पर साहम का विकास होगा। सुरक्षित जीवन, व्यक्ति को कोमल कर देगा...'।

सुदामा आपे में आए। वे यह क्या कर रहे हैं। वे क्या कृष्ण की चिंतन-पद्धति का विकास कर रहे हैं? उनका चिंतन वैसे ही हो गया है। कृष्ण ने उन्हें सम्मोहित कर दिया है क्या?... सम्मोहित किया हो या न किया हो; पर बात तो ठीक है। यह कर्म-सिद्धांत तो चिंतन-पद्धति ही नहीं, सीधा-सादा तर्कशास्त्र है। एक विज्ञान है। प्रकृति की इस व्यवस्था के बीच, व्यक्ति जो कुछ भी करेगा, उसका एक स्पष्ट और निश्चित परिणाम होगा। वह परिणाम व्यक्ति को अच्छा लगे या बुरा—उसके दो पक्ष होंगे ही। कुछ लाभ, कुछ हानियां। लाभ ही लाभ दिखने वाले परिणाम में भी कुछ हानियां होंगी और केवल हानि दिखने वाले परिणाम

मे भी लाभ होंगे । यह तो व्यक्ति अथवा समाज के अपने चित्तन पर निर्भर करता है कि उसमें कितना लाभ और कितनी हानि देखता है ।...कृष्ण कह रहा था कि अधिक स्वतंत्रता, समृद्धि और शक्ति पाकर यादवों में आत्मस्य और विलास बढ़ा है, तृष्णा बढ़ी है, वैर और द्वेष बढ़ा है । परिणामतः उनका तेज कम हुआ है—न्याय-अन्याय का विचार, धर्म-अधर्म का चित्तन कम हुआ है...और इन्हीं कारणों से वे अंततः नष्ट हो जाएंगे...और इसके विपरीत कंस के दमन और अत्याचार, जरासंध के अधर्म और पाप को सह-सहकर यादव जातियों में एकता बढ़ी, उनकी शक्ति बढ़ी, उनमें ओज और तेज आया और उन लोगों को कृष्ण जैसा नेता मिला...विचित्र गति है यह तो और विचित्र चित्तन...

सुदामा यदि इस चित्तन को कौरवों और पांडवों पर घटाएँ तो ? कौरवों की भोग के लिए हस्तिनापुर का वैभव मिलता रहा और वे अहंकारी, दुष्ट और मित्रविहीन हो गए । पांडवों को बार-बार पीड़ित होकर बंचित रहना पड़ा, इसलिए वे धली और सक्षम हुए । उनके मित्रों की संख्या बढ़ी । उन्हें कृष्ण जैसा मित्र मिला ।...पर क्या यह तर्क-पद्धति सुदामा पर भी लागू हो सकती है ?...वे दूके...अपने विषय में क्या सोचें...उन्हें धन-वैभव नहीं मिला, उन्हें निर्धनता में जीना पड़ा...तो उन्हें क्या मिला ? यदि कृष्ण की तर्क-पद्धति ठीक है, तो उन्हें भी तो इस निर्धनता का कोई लाभ होना चाहिए...हानियाँ तो वे समझते हैं, लाभ क्या होगा ?...बड़ी दूर तक सुदामा सोचते चले गए; किंतु उन्हें उसका कोई लाभ दिखाई नहीं दिया । तो क्या यह तर्क-पद्धति शार्पेभौमिक नहीं है, या मेरा ही मस्तिष्क इस लाभ को खोज निकालने में असमर्थ है ?... नहीं ! लाभ तो इसमें भी है । मुझ में ध्यसन नहीं है । मेरे बच्चे आत्मस्य और शोषण के मार्ग पर नहीं चलेंगे । हमारे पारिवारिक संबंध अधिक सुखद और संतोषजनक हैं !...कृष्ण के पास सब कुछ है, सब सुख-सुविधाएं, सामर्थ्य...पर कल कृष्ण के बच्चों को अपने पिता से शिकायतें हो सकती हैं—क्या सुदामा के बच्चों...

किस तुलना में पड़ गए थे । इस भूल-भूलियों में वे कहीं बहककर यह सिद्ध न कर दें कि निर्धन होना ही, सुखी होना है । नहीं ! बंचित होना



कभी सुखी होना नहीं हो सकता । कृष्ण भी यह नहीं कहता । क्योंकि कृष्ण यदि यही कहता तो, वह यादवों और पांडवों को संघर्ष के लिए न उकसाता । वंचित रहना अन्याय को स्वीकार करना है : कृष्ण न अन्याय करने का समर्थक है, न अन्याय सहने का । वह तो केवल एक प्राकृतिक सत्य की बात कहता है—प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है । वह प्रतिक्रिया अपने-आप में एक क्रिया बन जाती है और फिर उसकी प्रतिक्रिया होती है । इस क्रिया-प्रतिक्रिया शृंखला का दिशा-नियंत्रण और नाप-जोख, हमारे वश में नहीं है । जो प्रतिक्रियाएं अनुकूल होती हैं, उन्हें हम लाभ और जो प्रतिकूल होती हैं, उन्हें हम हानि कहते हैं । इस सत्य को देख-समझकर शायद कर्मों में आसक्ति नहीं रह जाती, जो कि कृष्ण के साथ हुआ है...

एक व्यक्ति ने आकर सुदामा का मार्ग रोक लिया, “कहां से आ रहे हैं भद्र ?”

“द्वारका से !”

“द्वारका से ?” उस व्यक्ति का चेहरा खिल उठा, “पिछले गांव में सुना था कि आजकल कोई विप्र सुदामा, कृष्ण वासुदेव के पास आया हुआ है ।”

सुदामा ने पहली बार ध्यान से उस व्यक्ति को देखा : बेदा-भूया से यह ब्राह्मण लग रहा था । चेहरे और शरीर की धूल कह रही थी कि दूर से यात्रा करता आ रहा है । अर्धेड़ वय का वह व्यक्ति कुछ विचित्र ढंग से मुंह खोले खड़ा, उनके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था ।

क्या कहते सुदामा ? क्यों पूछ रहा है, वह व्यक्ति ?

“क्या बात है ?” अंततः सुदामा ने पूछा ।

“सुना है, श्रीकृष्ण ने उसका बड़ा सत्कार किया है । बहुत धन दिया है...”

सुदामा चुपचाप खड़े उसे देखते रहे ।

“यदि वह मिल जाता तो उससे पूछता कि श्रीकृष्ण प्रत्येक विप्र को इसी प्रकार धन देते हैं या उसी ने कोई विशेष चमत्कार किया है ?”

तो यह बात है...सुदामा ने सोचा...सुदामा की ख्याति, उनके आगे-आगे चल रही है। यदि इस समय सुदामा बता दें कि वह कौन हैं, तो वह ध्यमित क्या करेगा? क्या करेगा?...

उसने सुदामा को देखा, पर सुदामा कुछ नहीं बोले, तो वह स्वयं ही बोला, "तुम नहीं जानते शायद। तुम्हारा राजकुल से कोई संबंध नहीं है।"

और सुदामा की प्रतिक्रिया देखे बिना, वह आगे बढ़ गया।

सुदामा को लगा, जैसे कोई झंझावात उनके ऊपर से बह गया हो। वे समझ नहीं पा रहे थे कि उन पर क्या प्रतिक्रिया हुई है।...क्या उन्हें यह जानकर, सुख मिला है कि उनकी ख्याति फैल रही है? इस यात्री ने सुना है तो अन्य लोगों ने भी सुना होगा।...पर क्या यह सुयश है कि उन्हें कृष्ण द्वारा बहुत सारा दान दिया गया है? याचक के रूप में प्रसिद्धि...क्या प्रसिद्धि है यह?...

और सहसा उनका सिर कृष्ण के सम्मुख कुतज्ञता से झुक गया। यदि सचमुच ही चलते समय कृष्ण ने स्वर्ण मुद्राओं की एक थैली उन्हें थमा दी होती तो सुदामा शायद बहुत प्रसन्न हुए होते, पर यह ख्याति तब सच हो गई होती और उनका याचक रूप...

जैसे उस यात्री ने सोचा और समझा है, वैसे ही तो अन्य लोग भी समझते होंगे...और सुदामा स्वयं को भूल, कृष्ण के विषय में सोचने लगे...कृष्ण के पास ऐसे ही कितने लोग जाते होंगे। मागने के कैसे-कैसे हथकंडे अपनाते होंगे, कितनी-कितनी तरह से उसे घेरते होंगे, किस-किस ढंग से चाटुकारिता नहीं करते होंगे...कितना ठीक सोचना था कृष्ण का, जब उसने कहा था कि हमारे विद्वान् उत्पादन के स्थान पर याचना में विश्वास करते हैं...

सुदामा की विचित्र दशा हो रही थी। जितनी देर तक वे सिद्धांतों की बात सोचते, उन्हें अपने भीतर एक संपन्नता की-सी अनुभूति होती रहती। वे कृष्ण से कितनी संपदा लेकर लौटे हैं। वे एक प्रकार की आत्म तृप्ति में सांस लेते हैं। दूसरी ओर जैसे बीच-बीच में वे उस घरा-तल से नीचे आ गिरते हैं। तब उनके सामने, अपने जीवन की व्यावहारिक

कठिनाइयां प्रकट होने लगती हैं और उन्हें लगता है कि कृष्ण ने उन्हें वातो में ही बहना दिया है... घर लौट कर अब वे किस मुख से कहेंगे कि कृष्ण उनके मित्र हैं...

भुटपुटा घना हो रहा था। दोपहर के समय एक कुएं के निकट रुककर उन्होंने भोजन कर थोड़ा आराम किया था और तब से लगातार चलते ही जा रहे थे। सुदामा को लगा, अब कहीं टिक जाना चाहिए। द्वारका जाते समय मार्ग में ठहरने के अनुभव उन्हें याद थे। वे अब भी किसी पेड़ के नीचे सो सकते थे; पर दो रातों द्वारका में कृष्ण के महल में सोने के पदचातु, अब वृक्ष के नीचे लेटना, सुदामा के लिए कठिन हो रहा था। अब तो उन्हें कोई ढंग का स्थान खोजना ही होगा—चाहे थोड़ा विरोध ही सहना पड़े। कर्म... उन्हें कृष्ण याद आ गया।

आगे चलकर मार्ग के साथ लगता हुआ, जो पहला गांव पड़ा, सुदामा उसी की ओर मुड़ गए। लगता था, गांव अभी सोया नहीं है। वैसे भी पहल-पहल कुछ अधिक लग रही थी।

गांव का छोटा-सा हाट पार कर, सुदामा कुछ आगे बढ़े तो सामने से आते हुए, दो व्यक्ति उन्हें देखकर रुक गए, "किसके महा जाना है नैया?"

"यात्री हूं।" सुदामा बोले, "रात को टिकने का ठिकाना चाहिए।"

"गांव में रुकना हो तो चौपाल में टिक जाओ।" उनमें से एक बोला, "पर आज बहुत-से व्यापारी टिके हुए हैं चौपाल में। असुविधा लगे तो गांव के बाहर मंदिर में टिक जाओ।"

क्षण भर सोचकर, सुदामा ने चौपाल में ही टिकने का निर्णय किया। वे व्यक्ति, उन्हें रास्ते का निर्देश कर आगे बढ़ गए।

चौपाल की ओर जाते हुए सुदामा स्वयं अपने आप से प्रश्न कर बैठे : निर्जन मंदिर में न जाकर, वे चौपाल में क्यों जा रहे हैं? वे तो स्वयं को एकांतप्रिय मानते हैं, फिर चौपाल की भीड़माड़... पर वे स्वयं को कोई उत्तर नहीं दे पाए। जाने क्यों... उनकी गांठ में घन भी तो नहीं है कि एकांत में लुटने का भय हो। चौपाल में लोग होंगे, शोर होगा, असुविधाएं

होगी...पर सुदामा कुछ बदल गए हैं क्या? यह कृष्ण का प्रभाव है क्या?  
उन्हें एकांत से अधिक, भीड़ पसंद आने लगी है...

वे चौपाल के निकट आए तो अनेक प्रकार के स्वर उनके कानों में  
पड़ने लगे। कई लोग एक साथ बोल रहे थे। स्वाभाविक ही था। यहाँ  
कोई आश्रम अथवा पाठशाला का अनुशासन तो था नहीं। सब लोग खुले  
मन से अपनी बात कह रहे थे।

पर सुदामा के प्रकाश-सीमा में आते ही वे सारे कंठ जैसे धम गए।  
एक पूरे समूह की दृष्टि उन्हें परख रही थी।

"कोन हो?" अंततः एक व्यक्ति ने पूछा। उसके स्वर का विरोध  
पर्याप्त स्पष्ट था।

"यात्री हूँ। रात भर टिकना है।"

"तो यहाँ क्या करने आए हो?" स्वर अपमानजनक हो चला था।

सुदामा का मन हुआ, पलट कर तत्काल वहाँ से चल दें। उनके लिए  
वही अधिक स्वाभाविक था। पर जाने क्या हुआ कि उनके पांव कुछ  
अधिक दृढ़ता से जम गए और स्वर कुछ ऊंचा उठ गया, "गांव में दस-पाँच  
चौपालें तो होती नहीं।"

सुदामा को लगा, अपना यह रूप स्वयं उनके लिए कुछ नया था।

उस व्यक्ति ने कुछ अचकचाकर सुदामा को देखा। लगा कि कोई  
सीखी बात उसके मस्तिष्क में आई है। पर फिर जैसे उसे वह पी गया।  
कुछ धीमे स्वर में बोला, "उस किनारे पढ़ रहो।"

सुदामा के मन में आया, कहें, 'तुम्हारे बीच आ पढ़ने से तो मैं जैसे  
ही रहा।' पर उन्होंने कहा नहीं। सुदामा का स्वभाव इतना उग्र नहीं  
था। घबसे भी व्यर्थ किसी का दिल दुबाने से क्या लाभ!

"अच्छा।"

सुदामा ने अपनी पोटली एक किनारे रख दी और सौटा-डोरी लेकर  
कुएँ की ओर चले गए।

वे सौटकर आए तो किसी ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। व्यापारी  
लोग अपनी बातों में उलझे हुए थे। पर इस बार अधिक लोग नहीं बोल  
रहे थे। जाने ऐसी कौन-सी बात थी कि जिसमें सब की रुचि थी। एक

बोल रहा था और अन्य सुन रहे थे ।...सुदामा का ध्यान भी उसी ओर चला गया । उन्होंने अपनी आंखें विपरीत दिशा में ही टिकाए रखी, पर उनके कान उनकी ओर लगे रहे । स्वर से लगता था कि वही व्यक्ति बोल रहा था, जिसने उनसे पूछताछ की थी ।

“व्यापारी को क्या चाहिए ? व्यापार करने की सुविधा !” वह कह रहा था, “और व्यापार किसलिए है ? धन कमाने के लिए । अब इसमें नैतिकता-अनैतिकता या स्वाभिमान-अपमान की बात कहां से आ गई । अन्न के व्यापार में लाभ होगा तो हम अन्न बेचेंगे, मदिरा बेचने में लाभ होगा, हम मदिरा बेचेंगे । सुंदरियां बेचने में लाभ होगा, तो हम सुंदरियां बेचेंगे...”

“पर सुंदरियां उगाएगा कौन ?” किसी ने हंसकर उसे टोक दिया । अनुशासन टूट गया और प्रायः सब लोग अपने-अपने ढंग से हंसने लगे ।

सहसा उसी व्यक्ति का क्रुद्ध स्वर सुनाई पड़ा, “भामाशाह तुम सदा गंभीर बात को भी हंसी में उड़ा देते हो । बहुत धुरी बात है । मेरी बात को समझने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ।”

“अच्छा ! बौसो भाई बोलो ।” टोकने वाले व्यक्ति ने सापरवाही से कहा ।

“मैं यह कह रहा था,” पहले व्यक्ति ने अपनी बात आगे बढ़ाई, “हमें तो प्रतिक्षण व्यापार के लिए नई से नई वस्तु और नया से नया क्षेत्र खोजना पड़ता है । ऐसे में सदा राज्य के विधि-निषेध आड़े आते हैं । तब हमें उसने बचने का कोई मार्ग खोजना पड़ता है ।” वह क्षण भर रुका, “और इस समय इस राज्य में सबसे समर्थ और प्रभावशाली व्यक्ति है कृष्ण ! यदि हमें कृष्ण तक पहुंचने का कोई साधन मिल जाए तो हमारे मार्ग से सारे राजकीय विघ्न दूर हो जाएंगे ।”

“देखो ! मैं बोलूंगा, तो फिर कहोगे कि मैं गंभीरता से बात नहीं करता ।” टोकने वाला व्यक्ति बोला ।

“बोलो—बोलो ।” अनेक स्वरों ने एक साथ कहा ।

“देवीदयाल बोलता है तो बोलता ही जाता है ।” भामाशाह बोला,,

“जो कुछ यह कह रहा है, वह तो सब ही जानते हैं। पर वह मार्ग है कौन सा? किसके माध्यम से पहुंचेंगे हम कृष्ण तक?”

“वही तो बताने जा रहा हूँ।” देवीदयाल अधीरता से बोला, “वैसे तो द्वारका में ऐसे सैकड़ों व्यक्ति हैं, जिनके द्वारा कृष्ण तक पहुंचा जा सकता है; पर हमें ऐसा व्यक्ति चाहिए, जो कृष्ण की बातों में बह न जाए और अपनी बात उससे मनवा सके...”

“फिर वही बात...” भामाशाह बोला।

देवीदयाल ने सीधे भामाशाह को कोई उत्तर नहीं दिया, पर जब वह बोला तो उसका स्वर पहले से कुछ अधिक कठोर था... शायद भामाशाह की टोका-टाकी की प्रतिक्रिया में, “और वह व्यक्ति ही भी ऐसा, जो कम प्रयत्न से, कम मूल्य में हमारे नियंत्रण में आ जाए...”

“पर वह हो कौन सकता है?” इस बार अनेक स्वरों ने अधीरता से पूछा।

“मैं कृष्ण के उस कंगाल मित्र, विप्र सुदामा...”

सुदामा के कान खड़े हो गए। ये लोग उनके विषय में बातें कर रहे हैं...

“मैंने सुना है कि वह बहुत निर्धन व्यक्ति है।” देवीदयाल कह रहा था, “थोड़ी-सी स्वर्ण मुद्राओं में प्रसन्न हो जाएगा। ब्राह्मण है, किसी छोटे ग्राम में रहता है। व्यापार के विषय में कुछ नहीं जानता। हम जो चाहेंगे, वह कृष्ण से मनवा देगा। कृष्ण उसकी बात टालेगा भी नहीं।”

सुदामा के जी में आया, तत्काल अपना स्रोटा-डोरी लेकर यहाँ से भाग जाएं। ये लोग तो उनके चारों ओर भयंकर पट्टयंत्र की रचना करने की सोच रहे हैं। ये लोग उन्हें खरीद लेना चाह रहे हैं, उनके धर्माधर्म विचार को, न्यायान्याय के चिंतन को, उनके कल्याणकल्याण के भाव को, उनकी बुद्धि, दर्शन और इच्छा को... और उन सब में कृष्ण को बांध लेना चाहते हैं। फिर वे कृष्ण से भी अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य करवाएंगे। सारे जंबूद्वीप के कर्म-नायक को, ये व्यापारी बांधकर, परतंत्र कर देना चाहते हैं। और उसे बांधने के लिए रस्सी बनेंगे सुदामा...

एक बार तो सुदामा का हाथ अपनी गठरी की ओर बढ़ भी गया, पर

दूसरे ही क्षण, उनके विवेक ने उन्हें रोका। इसमें भागने की क्या बात है? वे लोग सुदामा को श्रय कर लेना चाहते हैं, पर यह तो सुदामा की अपनी इच्छा पर है कि वे विकना चाहते हैं या नहीं... प्रलोभन उनके सामने आया तो यह तो उनकी अपनी इच्छा-शक्ति की परीक्षा है कि उनके भीतर प्रलोभन के प्रति कितना प्रतिरोध है।... भाग जाने से क्या यह प्रक्रिया थम जाएगी? ... कौन नहीं जानता कि यादवों का वास्तविक शासक कौन है? कौन उसकी शक्ति और सामर्थ्य से परिचित नहीं है। आज जब कृष्ण ने सुदामा के साथ अपने संबंध को इस खुले रूप में स्वीकार किया है तो प्रत्येक व्यक्ति के मन में सुदामा का महत्त्व, उनके कृष्ण के साथ अनुपात में ही बढ़ गया है। प्रत्येक व्यक्ति उनके माध्यम से कृष्ण तक पहुंचना चाहेगा... सुदामा कहां-कहां और कितना मानेंगे? ... यह तो संयोग था कि इन व्यापारियों की बातें उन्होंने सुन ली थी, किंतु इसी के समान जाने कहां-कहां लोग, उनके माध्यम से काम निकालने की सोच रहे होंगे। यह तो एक चेतावनी है सुदामा के लिए। इससे भागने के स्थान पर उन्हें यह सब सुनना चाहिए...

व्यापारियों के दल की बातचीत अनवरत चल रही थी। अब अकेला देवीदयाल ही नहीं बोल रहा था और न टोकनेवाला अकेला भामाशाह ही था। बातचीत में बहुत सारे नये-नये स्वर सम्मिलित हो गए थे और उनकी ओर देखे बिना, यह निश्चय करना कठिन था कि कौन क्या कह रहा है... सुदामा कुछ शक्ति भी हुए कि वे लोग अपने इतने गोपनीय रहस्य इस प्रकार प्रकट कर रहे थे। क्या उन्होंने सुदामा को नहीं देखा था... या सुदामा जैसा एक पथिक उनके लिए विशेष महत्त्व नहीं रखता था... या यह उनका कोई गोपनीय रहस्य नहीं था...

“जिस मनुष्य ने अपने जीवन में कभी धन देखा ही नहीं,” एक व्यक्ति कह रहा था, “वह स्वर्ण मुद्राओं की एक थैली में ही अपने प्राण बेच देगा। मुद्राओं की थैली उसके मुंह पर मारो और वह पालतू कुत्ते के समान अपनी पूंछ हिलाने लगेगा...”

“बात इतनी सरल नहीं है, जितनी तुम समझ रहे हो।” कोई दूसरा बोला, “जैसे तुम उसका महत्त्व आंक रहे हो, वैसे ही वह भी फही बैठा

धपना महत्त्व आंक रहा होगा। निर्धन और कंगालसही, पर इतना गणित तो वह भी समझता होगा कि उसके माध्यम से तुम कितना धन कमाओगे और उसका कौन-सा अंश उमे मिस सकता है। तुम उसका जितना मूल्य आंक रहे हो, उससे अधिक वह आंक रहा होगा।”

“अरे तो क्या है? क्या चाहेगा वह? उसे भूमि का एक टुकड़ा दे दो। कोई छोटा-मोटा घर बनवा दो। उसकी पत्नी के लिए सोने के आभूषण बनवा दो।”

“तुम छोटे व्यापारी हो,” कोई नया स्वर बोला, “तुम छोटी घात सोचते हो। पर तुम भी मानोगे, संसार में तुमसे बहुत बड़े व्यापारी भी हैं। तुम छोटे लाभ के लिए उसे एक घर बनवाकर देने की सोच रहे हो, तो कोई अपने बड़े लाभ के लिए उसे महल बनवाकर देने की सोचता होगा। तुम उसकी पत्नी के लिए सोने के आभूषण बनवाओगे, कोई उसे रत्नों के आभूषण बनवा देगा।”

सुदामा का मन फिर अपने भीतर अटक गया। वे तो सोच रहे थे कि कृष्ण ने उन्हें कुछ नहीं दिया; किंतु वे सुन रहे हैं कि उनके रहने के लिए महल बन रहे हैं, उसकी पत्नी के लिए रत्नों के आभूषण बन रहे हैं। कहीं कोई बैठा उनके लिए रथ और उनके पुत्रों के लिए रेशमी वस्त्र बना रहा होगा... अब तक तो उन्होंने कृष्ण को अपना सहपाठी और मित्र ही माना था। पर यह तो आज जान पाए हैं कि कृष्ण तो पारस है, जिसको छू दे, वह सोना हो जाता है। राजसत्ता क्या इतनी बड़ी वस्तु है... यह तो उन्होंने कभी सोचा ही नहीं था। राजनेताओं से कोई संपर्क निकल आए, तो लोग बैठे-बैठाए इतने महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। बिना कोई कर्म किए?... “यह उपलब्धि किस कर्म का फल है कृष्ण?... पर उनका मन जैसे स्वयं ही विद्वेषण करने लगा... कर्म क्यों नहीं है?... गुरु सांदीपनि के धाधम में मयोग से कृष्ण ने उनका संबंध हो गया था। वह संबंध तब भी वैसा ही था, जब सुदामा, कृष्ण से मिले बिना अपने गांव में बैठे थे आज भी वैसा ही है, जब वे कृष्ण से मिसकर आ रहे हैं। पर तब वह संबंध गुप्त था। सुदामा ने उसे सर्वविदित करने के लिए ही यह यात्रा-रुनी कर्म किया था। उस कर्म का फल क्या होगा, सुदामा नहीं जानते थे। उनके मन में यदि



कोई आकांक्षा थी तो मात्र थोड़े से धन की, आजीविक। के सामान्य-ने साधन की। महलों, आभूषणों और रथों के स्वप्न तो उन्होंने देखे ही नहीं थे।...पर अब यह सब कुछ सुदामा के सामने है; गुडीला रेशमी यस्त्रों तथा रत्नभूषणों में सजी राही है। कितनी सुंदर लग रही है यह, और रत्ननी दूर कि सुदामा में पहचानी भी नहीं जाती। संभव-मेविनाओं से घिरे उनके बियेक ओर जान।...पर यह सब, अपना कह कर स्वीकार करना सुदामा के लिए कठिन था।...वे देस रहे थे : उनके महल बने सहे हैं...कृष्ण ने दिए हैं, उन्हें ये महल ! पर उन्हें स्वीकार करना, न करना सुदामा की अपनी इच्छा पर है।...पत्र ग्रहण करना भी तो एक कर्म है। उस प्रिया की प्रतिप्रिया बया होगी, वह उनके सामने है। जब ये इन महलों, आभूषणों और धन-संपत्ति को ग्रहण करेंगे, तो उन सुविधाओं को पाने के लिए, वे स्वयं अपनी इच्छा, चिंतन, भ्रूत्य-दर्शन, जीवन-सदय, सब कुछ उन सुविधाओं के भ्रूत्य-रूप में दे देंगे...सुविधाओं का प्रय करेंगे तो अपना धिन्नय भी करेंगे। अपना ही नहीं, अपनी मैत्री का भी। मैत्री से बंधे कृष्ण का भी...इन व्यापारियों के कहने पर वे कृष्ण पर दबाव डालेंगे कि उन्हें मनमाना व्यापार करने दिया जाए, इनके अपने सिद्धांतों के अनुकूल, मदिरा का व्यापार, सुंदरियों का व्यापार, मानवीय शरीर का व्यापार... धन का ऐसा संचय अपमं है, पाप है। यह प्रकृति को स्वीकार नहीं। ऐसे संचय को प्रकृति के नियम दंडित किए बिना नहीं मानेंगे...

अपने धर्म के अनुपात से अधिक ग्रहण करने के प्रलोभन में कितना पतन होगा सुदामा का...सुदामा का शरीर कांप गया...किस दुश्चक्र में फंस गए हैं सुदामा... इससे तो कहीं सुसद है कि वे अपने धर्म के अनुपात में ही पारिधमिक ग्रहण करें। जो पारिधमिक नहीं है, बिना परिधर्म के मिल रहा है, वह प्रलोभन है, पतन का मार्ग है, दुख का आगार है...नहीं ! सुदामा को यह सब नहीं चाहिए...संचय के आधार में टिका पाप उन्हें स्पष्ट दिख रहा था...

व्यापारी अब भी अपनी बातों में लगे थे। पर सुदामा को लगा, अब और अधिक सतने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। उन्होंने पर्याप्त मुद्र और समझ लिया है। जैसे भी दिन भर के पके थे, उन्हें नौद

भी बहुत आ रही थी...'

प्रातः सुदामा, उन व्यापारियों से पहले उठकर, तैयार हो चल पड़े। रात, जाने व्यापारी लोग कब सोए थे। देर से ही सोए होंगे, इसलिए उठने में विलंब भी आवश्यक था। वैसे भी सुदामा नहीं चाहते थे कि उनसे उनका आमना-सामना हो। यदि कोई बातचीत हो ही गई और उन लोगों ने सुदामा का परिचय पूछ ही लिया, तो सुदामा झूठ नहीं बोल पाएंगे। उनका परिचय पाकर व्यापारियों का व्यवहार कैसा होगा, इसका कुछ-कुछ अनुमान, वे कर सकते थे। ऐसी किसी स्थिति से दो-चार होने की उनकी कोई इच्छा नहीं थी।

मार्ग पर चलते हुए सुदामा देख रहे थे : सब कुछ वैसा ही था, जैसा वे द्वारका की ओर जाते हुए देख गए थे। वही पथ थे, वही ग्राम, वही वृक्ष, वही खेत। वैसे ही पशु चर रहे थे, वैसे ही कृषक, स्त्री-पुरुष अपने खेतों में काम कर रहे थे; और छोटे-बड़े व्यापारी अपने सामान के साथ यात्राएं कर रहे थे।...पर सुदामा के लिए संसार बदल गया था। उनके लिए चारों ओर सब कुछ सुनहला हो गया था। यह सुनहला-स्वर्णिम संसार उन्हें वृष्ण ने दिया था। पहले वे स्वयं बताना चाहते थे कि वे सुदामा हैं, तो कोई उन्हें पहचानता नहीं था; और अब लोग उन्हें खोजते-फिरते हैं। वे जिसे बता देंगे कि वे सुदामा हैं, उसी का व्यवहार कुछ और हो जाएगा।...'

सुदामा की एक क्षण की चिंता, दूसरे ही क्षण चुहल में बदल जाती। एक क्षण उन्हें लगता कि अपने प्रति लोगों का कृत्रिम व्यवहार, उनके लिए असहनीय होगा; और दूसरे ही क्षण लोगों का यह परिवर्तित व्यवहार देखने का कौतुक उनके मन की चंचल कर देता। अब जब वे ग्रामप्रमुख से मिलेंगे तो क्या ग्रामप्रमुख उनसे उसी प्रकार कहेगा कि ग्राम में गुरुकुल की आवश्यकता नहीं है; सुदामा का ज्ञान ग्राम के लोगों के लिए आवश्यकता नहीं है; और यदि गुरुकुल स्थापित होगा तो उसके लिए कुलपति, आचार्य तथा उपाध्याय राजधानी से आएंगे ? ...क्या श्रेष्ठ धनदत्त पहले के ही समान चाहेंगे कि ग्राम के हाट में फेरी गई डोंडी को सुनकर

मुदामा उनके पुत्रों और पौत्रों को आशीर्वाद देने के लिए याचक बनकर उनके द्वार पर उपस्थित हों और उनसे दान-दक्षिणा पाकर कृतकृत्य हो जाएं।...नहीं ! जब अन्य लोगों का व्यवहार, मुदामा के प्रति बदला है तो ग्रामप्रमुख और श्रेष्ठ धनदत्त भी बदलेंगे...बदलेंगे ! पर क्या परिवर्तन होगा ?...

सहसा मुदामा का ध्यान दूसरी ओर चला गया : व्यवहार मात्र बदलने से क्या होगा ? इन पिछले कुछ दिनों में मुदामा, कृष्ण से मिलने कृष्ण की बातों और लोगों के व्यवहार की उत्तेजना में अपनी आजीविका की समस्या को भूलने लगे हैं...पर घर लौटते ही इस कठोर और घघास समस्या का सामना करना पड़ेगा । ग्रामप्रमुख मधुर डंग से हाथ जोड़कर मुदामा को प्रणाम करेंगे...श्रेष्ठ धनदत्त उन्हें आमंत्रित करने के लिए स्वयं उनकी कुटिया में पधारेंगे )...पर मुदामा की आजीविका का क्या होगा ? द्वारका की ओर चलने से पहले तो फिर, उन्होंने एक प्रकारसे स्वयं को मना लिया था कि वे अपनी आजीविका के लिए श्रेष्ठ के पास या कहीं और जाएंगे । पर अब ! अब वे साधारण निर्धन ग्रामीण ब्राह्मण, मुदामा नहीं रहे । योगीराज दादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण से इतना सत्कार पाकर, द्वारका से लौटा हुआ उनका मित्र, जिस-तिस से अपनी आजीविका के लिए कैसे प्रार्थना करेगा ? ...अब तो उनके लिए यह और भी कठिन हो जाएगा ।...और यदि मुदामा इस समस्या का समाधान न कर सके, तो फिर सुशीला अपने लिए कोई काम खोजने के लिए पार्वती के साथ नगर जाएगी, या काशी-नाथ से सहायता चाहेगी ।...मुदामा ने सुशीला से एक अवसर मांगा था । किंतु उस अवसर से तो उनकी स्थिति और भी जटिल हो गई है ...

कैसी विपम स्थिति है इस समाज की ! समाज तो अर्थ में चलता है । आर्थिक स्थिति सुदृढ़ न हो तो सारा मर्यादा और सम्मान हास्यास्पद हो जाता है । पहले तो मुदामा को अपनी विद्या और ज्ञान का ही अभिमान था, जो उन्हें कहीं झुकने नहीं देता, अब कृष्ण का यह सत्कार, यह आदर-मान...

कही उनके मन में अहंकार तो नहीं बड़ रहा...ठीक कहा था कृष्ण ने । प्रकृति बड़ी द्वन्द्ववात्मक है । जिस वस्तु का अभाव हमें वंचित करता

है, हम उसकी प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं। और यदि वह वस्तु हमें प्राप्त हो जाए, तो वह भविष्य में हमारी वंचना का कारण बन जाती है।...कितना तड़पे थे सुदामा, कृष्ण के साथ अपनी घनिष्ठता को प्रकट करने के लिए। किसलिए चाहते थे वे कि यह हो...अपना महत्त्व जताने के लिए ही तो।...और आज जब वह संबंध प्रकट हो गया है, उन्हें महत्त्व प्राप्त हो गया है, तो वही महत्त्व उनके मार्ग में आड़े आ रहा है। इसी महत्त्व के कारण वे अपने लिए एक साधारण आजीविका प्राप्त नहीं कर सकेंगे। पहले वे साधारण थे, इसलिए कोई उन्हें कुछ देता नहीं था, अब वे असाधारण हैं तो किसी से कुछ ले नहीं सकेंगे..."

भीतरी ऊहापोह से घबराकर उन्होंने बाहर देखा : यह कदाचित् वही स्थान था, जहां से जाते हुए उन्होंने धर्मशाला में रात भर टिकना चाहा था और उस प्रबंधक ने उन्हें किसी कोने में पड़ रहने का परामर्श दिया था।...हां ! यह वही स्थान था। यह सामने वाला वृक्ष ही शायद उनका आश्रय बना था। तो थोड़ी दूर चलकर वह धर्मशाला भी मिलेगी। उसमें शायद वह प्रबंधक भी होगा..."

सुदामा अपनी चिंताएं भूल गए। उन्हें एक उन्माद-सा हो गया था। जाने कहां से ऊर्जा का एक स्रोत-सा उठा और उन्हें एक चंचल सक्रियता से भर गया। वे स्वयं नहीं जानते थे कि वे क्या करने जा रहे हैं। पर उनके पग जल्दी-जल्दी उठने लगे थे और उनकी आंखें अनवरत उस धर्मशाला को खोज रही थी...कुछ ही क्षणों में वे उस धर्मशाला के सामने खड़े थे।...हां ! यह वही धर्मशाला थी...और आज तो प्रबंधक भी चारपाई डाले बाहर ही बैठा था।

सुदामा का संकोची स्वभाव सहसा ही तिरोहित हो गया। वे निःसंकोच जाकर, प्रबंधक के सामने खड़े हो गए।

प्रबंधक ने उनकी ओर देखा; किंतु उसके चेहरे पर कोई पहचान नहीं उभरी।

"क्या बात है भाई ! धर्मशाला में टिकना है क्या ?" उसने पूछा।

सुदामा को आश्चर्य हुआ : यह वही व्यक्ति था, जिसने उनकी प्रार्थना पर भी कोई ध्यान न देकर उन्हें वहां से चले जाने पर बाध्य किया था;

और आज स्वयं ही उनसे निमंत्रण भरे स्वर में पूछ रहा है।

“दिन के समय धर्मशाला में टिकने का क्या अर्थ ?” सुदामा बोले,  
“रात होगी, यात्रा स्थगित होगी तो कोई धर्मशाला में टिकेगा।”

“अरे भैया ! कुछ सोग दिन में भी टिक जाते है।” वह बोला,  
“अपना सामान रख जाते हैं और स्वयं आसपास घूम-फिर आते हैं।”

सुदामा चुपचाप खड़े उसे देखते रहे।

“द्वार खोलूं क्या ?” वह तालियों का मुच्छा लिए उठा।

सुदामा हंस पड़े, “तुम धर्मशाला में ठहराने के लिए इतने उत्सुक क्यों हो भाई ? पहले तो तुम ऐसे न थे।”

सगा, उसे अपनी कोई पीड़ा याद आ गई और उसका पका हुआ फोड़ा जैसे रिसने लगा, “पहले ऐसा नहीं था, तभी तो मृगत रहा हूं। पहले मैं बाहर चारपाई बाल, आने-जाने वालों को निहारता कब था। आने-जाने वालों से धर्मशाला में ठहर जाने के लिए अनुनय-विनय कहां करता था। भीतर कमरे में रहता था। कोई आता तो उसे दुस्कार देता। किसी को ठहरने ही नहीं देता था कि उसकी देखभाल करनी होगी...।”

“तो क्या हो गया ?” सुदामा ने उसे टोका।

“क्या-नहीं हो गया।” उस व्यक्ति के चेहरे पर झल्लाहट छा गई,  
“पता ही देर से चला। वही तो बात है। पता ही तब चलता है, जब घटना घट जाती है और अपने हाथ से बाहर हो जाती है।...जब वह यहाँ से जा रहा था तो पता नहीं चला। पता तब चला, जब वह द्वारका पहुंच गया...।”

सुदामा चौंके, “कौन ?”

“अरे वही विप्र सुदामा ! श्रीकृष्ण का सखा।” सुदामा की प्रतिक्रिया से उदासीन, प्रबन्धक अपनी री में बोलता चला गया, “श्रेय क्या जानता था, वह कौन-सा है। उसके माथे पर तो लिखा नहीं था कि वह सुदामा है। जो मैं सब के साथ करता हूं, वही मैंने उसके साथ भी किया होगा। अब यदि उसने मेरे विरुद्ध कृष्ण के कान भर दिए हों, तो किसी भी दिन द्वारका से इधर जाने वाली सैनिक टुकड़ियां, भुके बांधकर ले जाएंगी...।”

सुदामा को प्रबन्धक के प्रलाप में लिप्ति का सुख आने लगा था, “पर वह इधर से गया था क्या ? तुम्हारी धर्मशाला में आया था ?”

“गया ही होगा। आया ही होगा।” प्रबन्धक घाटाप्रवाह बोलता चला गया, “सुदामापुरी से द्वारका जाने का और मार्ग ही कौन-सा है?”

“सुदामा पुरी!” सुदामा चकित होकर बोले, “यह कौन-सा ग्राम है भाई? इधर तो इस नाम का कोई ग्राम नहीं है।”

“नहीं था, पर अब है।” वह बोला, “द्वारका से आदेश आ गया है कि यही नाम होगा। ग्रामप्रमुख ने डोंडी पिटवा दी है। यह मुझे बहुत सारे यात्री बता गए हैं।”

सुदामा को उद्वेग का प्रस्ताव और कृष्ण की पुष्टि घाद हो आई। तो कृष्ण ने वह कार्य कर ही डाला। अब उनका ग्राम सचमुच ही सुदामापुरी हो गया है।

“जो होना था, वह तो हो गया।” स्वयं को सन्तुलित कर सुदामा बोले, “अब तुम क्या कर रहे हो। अब क्या हो सकता है?”

“अरे भैया! वह कभी द्वारका से लौटेगा भी तो!” वह बोला, “अब उसे धर्मशाला में ठहराऊंगा और उसकी सेवा करूंगा।”

“तुम उसे पहचानते हो क्या?”

“पहचानता तो नहीं। पर वह स्वयं ही अपना महत्त्व जताता आएगा।” प्रबन्धक बोला, “सम्भव है, वह श्रीकृष्ण के रथ पर आए। सेवकों और सैनिकों के साथ आए। अब वह छुप भीड़े सकता है।”

सुदामा का मन एक उज्ज्वल हास से भर गया। कैसा विचित्र है यह व्यक्ति। उन्हें लगा, उन्हें जैसे अदृश्य हो जाने की सिद्धि प्राप्त ही गई है। वे जहां जाना चाहते हैं, चले जाते हैं और कोई जान नहीं पाता कि वे वहां आए हैं। वे किसी के भी सम्मुख जा लड़े होते हैं और वह देख नहीं पाता कि वे उसके सामने खड़े हैं।

“उसने तुम्हारे विरुद्ध कृष्ण—श्रीकृष्ण,” सुदामा ने स्वयं को सुधारा, “को कान नहीं भरे होंगे। वह ऐसा माधमी नहीं है।”

“तुम उसे जानते हो क्या?” प्रबन्धक ने पहली बार, पूरी आंखें खोलकर, सुदामा की ओर देखा।

“वैसा होता तो अब तक श्रीकृष्ण के सैनिक तुम्हें बांध कर ले भी गए होते।” सुदामा उसका प्रश्न टाल बए। पर उन्हें लगा कि अब यह

क्रीड़ा अधिक देर नहीं चलनी चाहिए, नहीं तो वह अधिक से अधिक प्रश्न पूछेगा। सुदामा झूठ बोलेंगे नहीं और वे पहचाने जाएंगे।

“यदि उसने मेरे विरुद्ध कुछ नहीं भी कहा तो भी मुझे उसकी सेवा करनी है।” प्रबन्धक फिर पहले के ही समान अपनी री में वह चला, “वह मेरे प्रतिकूल नहीं है तो इसका अर्थ यह है कि वह मेरे अनुकूल भी हो सकता है। वह मेरे अनुकूल हो गया तो...।”

“तो वह क्या कर सकता है ?” सुदामा स्वयं को रोक नहीं पाए, “वह तो एक दरिद्र ब्राह्मण है...ऐसा मैंने सुना है।” वे सतर्क हो गए थे।

“सुना तो मैंने भी यही है।” वह बोला, “पर उसकी राजा तक पहुंच है और राजकृपा क्या नहीं कर सकती...।”

सुदामा की चंचलता, आशंकाओं के नीचे दब गई।...उन्हें अब चल ही देना चाहिए।

“अच्छा भैया ! मैं चलूं। राम-राम !”

“राम-राम !” प्रबन्धक निर्बाध गति से बोला, “वह कहीं मिल जाए तो उसे मेरी धर्मशाला में भेज देना। वह एक बार मुझे मिल जाए...”

सुदामा उसकी बात सुनने के लिए रुके नहीं। वह जाने क्या-क्या और कब तक बोलता रहेगा। पर, सुदामा का अधिक ठहरना उचित नहीं था। आगे की यात्रा के लिए तो उन्हें और भी सावधान रहना चाहिए। जो उन्हें पहचानते हैं, वे तो पहचानते ही हैं : पर अपरिचित लोगों के बीच उनका सार्वजनिक रूप से पहचाना जाना हितकर नहीं होगा। जाने वे किस फन्दे में फँस जाएं...

यह व्यक्ति तो एकदम बीड़म है...वे सोच रहे थे...पर मनुष्य की वृत्तियों का कितना ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करता है। जाते समय जब वे उसके पाम पहुंचे थे तो उसमें अधिकार का अहंकार कूट-कूट कर भरा हुआ था। उस समय वह सबसे दुर्भ्रवहार कर रहा था। आज उसकी भय और लोभ की पद्म-वृत्तियां पुकार-पुकारकर सुदामा को निमन्त्रित कर रही थीं...

आज सुदामा उन ध्यापारियों, इस प्रबन्धक या ऐसे ही सब लोगों के लिए महत्वपूर्ण हो गए हैं, क्योंकि वे कृष्ण के मित्र के रूप में विख्यात हो

गए हैं। और कृष्ण का क्या महत्त्व है? शासन उसके हाथ में है।...यदि आज किसी कारण से सत्ता यादवों के हाथ में न रहे तो?...हां! इसमें असम्भव ही क्या है? मथुरा में यादवों की सत्ता कंस ने छीन ली थी। कृष्ण ने सत्ता लौटा तो ली थी, किन्तु जरासंध के भय से मथुरा नगरी ही छोड़ देनी पड़ी।...यहां भी तो पहले कुकुद्मीन शासक था, फिर पंचजन आया, फिर यादव आए...ये जो लोग, आज सुदामा को पूजने लगे हैं, पहले इसी प्रकार कुकुद्मीन के प्रति अपना प्रेम जताते होंगे, फिर यही प्रेम उन्होंने पंचजन राक्षस को अंजुलियां भर-भर कर दिया होगा। आज इनकी पूजा-श्रद्धा, सब कुछ कृष्ण के लिए है; और कृष्ण के माध्यम से सुदामा के लिए है...यह प्रेम, यह पूजा, यह श्रद्धा...किसी गुण के लिए नहीं है, किसी व्यक्ति के लिए नहीं है, यह राज-सत्ता के लिए है। राज-सत्ता के लिए भी नहीं, अपनी पशु-वृत्तियों की वृत्ति के सामनों के लिए है।...कितना अविवेकी है यह मनुष्य...कितनी संकुचित दृष्टि है इसकी! राज-सत्ताएं तो काल के चपड़े से आए दिन उलटती-पलटती हैं, पर मानवता को तो लाखों-करोड़ों वर्षों तक जीना है। प्रेम, पूजा, श्रद्धा, आदर्श, सिद्धान्त, सत्य...ये सब भाव क्या इतने हल्के, सस्ते और मूल्यहीन हैं कि आए दिन सत्ता-परिवर्तन के साथ ये भी बेपैदे के लोटे के समान दिशाहीन झोलते फिरें...सुदामा को आचार्य ज्ञानेश्वर याद हो आए...यही हमारे बुद्धिजीवी करते हैं, यही चिन्तक, दार्शनिक और लेखक करते हैं...वे भूल जाते हैं कि राजसत्ता जिस मोह और त्रास का निर्माण करती है, वह अल्पकालीन होती है; और श्रद्धा जिन सिद्धान्तों, ग्रन्थों, आदर्शों और नियमों का निर्माण करते हैं, उन्हें मानवता के साथ बहुत दूर तक चलना होता है...

## चौदह

अपने ग्राम के निकट पहुंचते-पहुंचते झुटपुटा-सा हो गया था।

विचित्र स्थिति हो रही थी। मन में घर पहुंचने की उथल-पुथल मची



हुई थी। बार-बार सुशीला और बच्चों का ध्यान आता था। अधिक देर हो गई तो ज्ञान और विवेक सो जाएंगे। वे उनसे बातें नहीं कर पाएंगे। सुशीला को उन्हें एक-एक बात सुनानी थी। उसी ने तो भेजा था द्वारका। कितनी आतुरता से उनकी प्रतीक्षा कर रही होगी। उसे एक-एक बात में रुचि होगी : जाते हुए मार्ग कैसे कटा ? कृष्ण कैसे मिले ? कृष्ण की पत्नियाँ कैसे मिलीं ? और कौन-कौन मिसा ? किससे क्या बात हुई ? कृष्ण ने क्या दिया ? ...

सुदामा को एक संकोच ने जकड़ लिया। ...क्या बताएंगे कि कृष्ण ने उन्हें क्या दिया ? किस-किस को संभलाएंगे ... और अभी थोड़ी देर में ग्राम की सीमा आरम्भ हो जाएगी। उनके परिचित लोग मिलने लगेंगे। ... अपरिचितों से तो सुदामा भागते आए हैं। अब परिचित ... जाने यहाँ क्या-क्या समाचार पहुंचा है। मार्ग में धर्मशास्त्रा का प्रबन्धक कह रहा था कि ग्रामप्रमुख ने डोंडी पिटवा दी है कि इस ग्राम का नाम सुदामापुरी है ... तो अन्य समाचार भी पहुंचे ही होंगे। उनकी अनुपस्थिति में जाने क्या-क्या कहा और सुना गया होगा। जाने लोग कैसे मिलेंगे उनसे ? ... उनकी निर्धनता के कारण उन्हें मगध ही मानेंगे ? ... या कृष्ण के मित्र के रूप में उनका सत्कार होगा ? ... या कृष्ण के माध्यम से अपना कोई काम बनवाने के लिए चाटुकारों का मण्डल उनके आस-पास घिर आएगा ?

जब तक सुदामा सारी स्थिति को अच्छी प्रकार जान ही न जाएं, वे किसी का सामना नहीं करना चाहते थे। ... अच्छा है, घोड़ा विलम्ब और हो जाए। अन्धकार पूरी तरह छा जाए। तब सुदामा चुपके से अपने घर जा पहुंचेंगे। ... यह कौन द्वारका नगरी है कि मार्ग पर प्रकाश होगा और रात में भी नागरिकों के रथ आते-जाते होंगे। ... छोटा-सा गांव है। अंधेरा हुआ कि दिन भर के काम-काज से थके-मादे लोग खा-पीकर सो रहेंगे। किसको पता लगेगा कि सुदामा लौट आए हैं।

मार्ग से कुछ हटकर सुदामा पेड़ों की आंठ में यथासम्भव छिपकर बैठ गए। दूर से किसी की दृष्टि पड़ भी गई तो यही समझेगा कि कोई पथिक सुस्ता रहा है। सुदामा ने अपना गमछा सिर पर लपेट लिया ... हां ! ऐसे कोई

उन्हें जल्दी पहचान भी नहीं पाएगा ।

पर इन सावधानियों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी । कोई उनके निकट नहीं आया । दो-एक बार, थोड़ी दूरी से कुछ मनुष्यों और कुछ पशुओं के जाने का आभास हुआ और बस...उन्हें भी घर पहुंचने की जल्दी रही होगी । किसी ने ध्यान नहीं दिया कि इन पेड़ों में कोई छिपा बैठा है ।

थोड़ी देर में अन्धकार घना हो गया । सुदामा ने उठकर देखा : कहीं कुछ नहीं दिख रहा था । कहीं कोई गतिविधि नहीं थी । सारा क्षेत्र जैसे सो गया था । अब किसी से भेंट हो जाने की सम्भावना नहीं थी । और कोई एक-आध व्यक्ति मिस भी गया तो उसका सामना करना कोई ऐसा कठिन भी नहीं होगा ।

सुदामा को स्वयं अपने-आप पर आश्चर्य हुआ : घर के इतने निकट आकर भी वे कैसे रुक गए ? क्या सामान्यतः यह उनके लिए सम्भव था ? नहीं ! तो क्या कृष्ण से मिलकर सुदामा कुछ बदल गए हैं ? ...

अपनी कुटिया से कुछ पहले ही सुदामा चौंककर रुक गए । यह क्या ? यहां तो किसी ने बाड़ लगाकर मार्ग रोक दिया था । ...

'यह क्या हुआ ?' सुदामा का मस्तिष्क भ्रमभ्रानते लगा था, 'क्या किसी ने इस भूमि को घेर कर इस पर अपना आधिपत्य जमा लिया है ? क्या यह भूमि किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गई है...यदि यह किसी की सम्पत्ति हो गई है तो फिर सुदामा की कुटिया का क्या हुआ ? क्या उनकी कुटिया उजाड़कर फेंक दी गई ? पर सुशीला और बच्चे ? धिक् मूर्ख सुदामा ! तू आकर कौतुक के मारे ग्राम के बाहर छिपा बैठा रहा और रक्षमाय भी चिन्ता नहीं की कि सुशीला और बच्चों का क्या हुआ होगा । उजाले में आया होता तो कुछ खोज-बीन करता । अब इस अन्धेरे में उन्हें कहां खोजा जा सकता है, जब सारा गांव सो गया है । ...

सुदामा के जी में आया कि अपना मुंह नोच लें । बहुत चतुर बन रहे थे, और कैसे निकले मूर्ख !

पर दूसरे ही क्षण उनका आत्मबल जागा : इतने दुखी होने की क्या बात है । वे अब इतने दुर्बल नहीं हैं । उनकी भी सुनवाई होगी । वे लौट

कर फिर कृष्ण के पास आएंगे। जो उनके नाम पर, गांव का नाम बदलने का आदेश दे सकता है, वह उन्हें उनकी कुटिया की भूमि भी लौटा सकता है। वे नहीं जानते थे कि वह भूमि उनकी है या नहीं! पर वे पीढियों से वहीं रह रहे हैं। उनके द्वारका जाने तक वह भूमि और किसी की नहीं थी, तो उनके जाते ही...

उनका मन हुआ कि वे उल्टे पंरों द्वारका लौट जाएं और इस बार कृष्ण की इच्छानुसार सैनिक गुल्म के साथ, दारुक द्वारा हांके गए रथ पर ही बैठकर, दिन के प्रकाश में अपने गांव लौटें। जिस व्यक्ति ने उनका घर उजाड़ा है, उसे घांघकर कोड़ों से पिटवाएं; और निर्बलों तथा असहायों की रक्षा न कर पाने के अपराध में ग्रामप्रमुख को भासो से छिदवाएं...

सहसा सुदामा ने स्वयं को संयत किया : इतने आवेश का समय नहीं आया था। तीन दिन की यात्रा कर द्वारका से लौटे हैं। फिर से द्वारका पहुंचने के लिए, पुनः तीन दिन लगेंगे। सम्भव है कि कृष्ण हस्तिनापुर या इन्द्रप्रस्थ चला गया हो। सेनाएं भी गई हों! द्वारका लौटने का कोई लाभ नहीं होगा। इससे तो अच्छा है कि वे स्वयं ही ग्राम-प्रमुख से मिलें। जिसने ग्राम का नाम, उनके नाम पर रखने की डोडी पिटवाई है, वह उनका कुछ तो महत्व आंकेगा ही। सम्भव है कृष्ण के पास जाने की आवश्यकता ही न पड़े...

पर उससे भी पहले, उन्हें अपनी कुटिया तक पहुंचने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए: वह अपने स्थान पर है भी या नहीं। है तो किस अवस्था में है?

सुदामा उस बाढ़ के साथ-साथ आगे बढ़े। बाढ़ काफी विस्तृत थी और ऐसा लगता था कि सुदामा का ही नहीं, अनेक अन्य लोगों के कुटीर भी उसमें घेर लिए गए हैं। तो क्या यह सारा क्षेत्र ही किसी ने हथिया लिया है? सुदामा सोचते जा रहे थे।

कुछ और आगे चलकर उन्हें इस बाढ़ में बना एक प्रवेश-द्वार मिल गया। अंधकार में उसकी बनावट स्पष्ट नहीं थी; किंतु उसका विस्तार आकर्षक था।

फाटक से प्रविष्ट होकर सुदामा अपनी कुटिया की ओर मुड़े। मार्ग

में और कोई विशेष परिवर्तन उन्हें नहीं मिला। बस, कुछ स्थानों पर ऐसी सामग्री अवश्य रखी दिखाई पड़ी, जैसे वहां कुछ और भी निर्माणकार्य चल रहा हो...

सुदामा का कुटीर अपने स्थान पर ठीक अवस्था में खड़ा था। भीतर प्रकाश भी था। भीतर के लोग अभी सोए नहीं थे।... पर भीतर है कौन? सुशीला और बच्चे या...

सुदामा ने हल्के से पुकारा, "सुशीला!"

कपाट तुरंत खुल गया। हाथ में दीपक लिए, सुशीला उनके सामने खड़ी थी। उसके चेहरे पर अद्भुत उल्लास था।

सुदामा का मन शांत हुआ : सब कुशल-मंगल था। नहीं तो सुशीला इतनी प्रसन्न दिखाई न पड़ती।

सुदामा भीतर आए। ज्ञान और विवेक एक चारपाई पर शांत पड़े सो रहे थे।

"कैसी हो?"

"ठीक हूँ।" सुशीला मुस्कराई, "आप कैसे हैं?"

"यका हुआ हूँ।" सुदामा चारपाई पर बैठ गए, "यहां चारों ओर बाढ़ कैसी लग गई है?"

सुशीला की प्रसन्नता छिपी नहीं रह सकी। वह खुलकर हंस पड़ी, "इस स्थान पर अब कुलपति सुदामा के गुरुकुल का निर्माण हो रहा है..."

"ओह!" सुदामा के मुख से निकला, "कौन बनवा रहा है?"

"ग्रामप्रमुख?"

"क्यों?"

"गुरु सांदीपनि के शिष्य और श्रीकृष्ण के मित्र के सम्मान में।"

"यहां सूचना पहुंच गई क्या?" सुदामा मुस्करा रहे थे।

"सूचनाएं तो कई माध्यमों से आई हैं।" सुशीला बोली, "पर डोंडी पीटने को तो अकेला मृगुदास ही पर्याप्त है। कल से ग्राम भर में प्रचार करता फिर रहा है, 'श्रीकृष्ण ने सुदामा जी को अपनी बांहों में भर लिया।' 'श्रीकृष्ण ने यह कहा, वह कहा...'।"

सुदामा मुस्कराते रहे ।

“श्रेष्ठि घनदत्त भी आए थे । वे गुरुकुल के लिए गोशाला बनवा रहे हैं ।” सुशीला ने बताया, “सारे ग्राम के आहाणों की पत्नियाँ मेरे पास कई-कई चक्कर लगा गई हैं कि उनके पतियों की गुरुकुल में नियुक्ति के लिए मैं आपसे कहूँ । काशीनाथ की पत्नी भी आई थी, यदि उसे मैं कोई काम दे सकूँ । पार्वती तो घाम तक मेरे पास ही बैठी थी, यदि गावों की देख-भाल के लिए...।”

सुदामा कुछ कह नहीं सके । उन्हें लगा, उनकी कुटिया में कृष्ण का हास्य गूँज रहा है ।

सोने के लिए चारपाई पर लेटे तो सुदामा को लगा, उनका मन अत्यन्त शांत था । सारी हलचलें जाने कहां लो गई थीं । बस चिंतन की एक निर्मल धारा नीचे कहीं आत्मा की गहराई में बह रही थी । धारा इतनी निर्मल थी कि उसका तल देखने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हो रही थी । वे अपने मन को साफ-साफ देख पा रहे थे :

कर्म का फल मिलता है—निश्चित रूप से मिलता है । सभी तो कृष्ण जीवन भर संधर्ष करता रहा है । व्यक्त यदि कर्म करने को स्वतंत्र न हो और उस कर्म का फल निश्चित न हो तो इस जीवन में फिर रह ही क्या जाएगा । कर्म-फल पर यदि कृष्ण को इतना विश्वास न होता तो वह कंस, जरासंध, काशयवन और शिशुपाल जैसे शक्तिशाली नरपतियों के विरुद्ध जन-आंदोलनों का नेतृत्व कैसे करता ? कृष्ण ठीक कहता है कि मनुष्य के कर्म का फल तो उसे मिलता है पर उसे बीच में ही कोई और भ्रष्ट लेता है इसलिए उन भ्रष्टने वालों को पहचानना होगा, उनके विरुद्ध संधर्ष करना होगा, और उन्हें मार्ग से हटाना होगा...कहां यादव कृष्ण और पशु-पालक दीन-हीन बने बैठे थे और कहां कृष्ण ने उन्हें निरंतर संधर्ष की सार्थकता समझाकर आर्यावर्त के शीर्ष पर बैठाया.....

पर क्या प्रत्येक कर्म का फल मिलता है ? मैं किसी प्रासाद की पक्की दीवार को धकेलूँ तो क्या वह अपने स्थान से हट जाएगी ? ...नहीं । कदापि नहीं । तो कहां मिसा कर्म का फल ? ...सुदामा का मन भ्रमभ्रमने लगा...पर अगले ही क्षण उन्होंने स्वर्ग को संभाला...मन को शान्त

किया... इस गुत्थी को सुलझाना होगा.....

यदि मेरे घकेलने से दीवार अपने स्थान से नहीं खिसकती तो उसका यह अर्थ नहीं हुआ कि घकेलने से कुछ खिसकता ही नहीं, इसलिए घकेलना निरर्थक है। मैं चारपाई को घकेलता हूँ तो वह खिसकती है, चाल्टी खिसकती है।...घकेलने का फल तो होता है, पर दीवार पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। तो इसका अर्थ यह हुआ कि दीवार को पर्याप्त शक्ति से नहीं घकेला गया। थोड़े काम से बड़े परिणाम की अपेक्षा की गई। अपनी मनोकामना को प्रकृति के नियमों पर साधने का प्रयत्न किया गया... इस प्रयत्न में तो कामना अधिक हुई, काम कम हुआ।...कर्म को बढ़ाना होगा। दीवार को मार्ग से हटाने के विराट् कार्य के लिए विराट् उपकरण इकट्ठे करने होंगे। लोगों को संगठित करना होगा...

कृष्ण ने लोगों के संगठन से बड़े-बड़े अत्याचारी साम्राज्य ड़ा दिए। आज भी वह निरंतर प्रयत्नशील हैं। कर्म का फल कर्ता तक पहुँचे, मार्ग की बाधाएं हटाई जाएं। ये बाधाएं अनेक हैं—अन्याय के रूप में, अत्याचार और शोषण के रूप में, दूसरे से छीनने और झपटने के रूप में, गलत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था के रूप में...कृष्ण ने कहा था न्यायपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक संगठन से...

सुदामा अपने एक नये मन को पहचान रहे थे...कृष्ण अकेला ही क्यों करे यह संपर्क, सुदामा भी क्यों न करे?...कृष्ण के किए कर्म का फल होता है तो सुदामा के कर्म का भी फल होगा...अब सुदामा का गुरुकुल बनेगा। इसी गाँव से नहीं, अनेक ग्रामों के बालक, किशोर, तबल उनके पास अध्ययन के लिए आएंगे।...सुदामा क्या उनकी दर्शन के सैद्धांतिक प्रासादों में ही भटकते रहेंगे, वे उन्हें कर्म के राजपथ पर चलना नहीं सिखाएंगे?...अवश्य सिखाएंगे। चित्त के साथ कर्म को जोड़ना होगा, सिद्धांत और व्यवहार को निकट लाना होगा...हताश और थक-हार कर बैठे मनुष्य को यह विश्वास देना होगा कि उसके प्रयत्न से संसार बदलेगा, संपर्क से लक्ष्य पास आएगा।...कृष्ण ने यही विश्वास तो दिया है सुदामा को...

सुदामा को लगा, उनकी आँखों के सामने एक नया सकाज साकार

हो रहा है\*\* भयंकर और विराट अन्यायी शक्तियाँ बह रही हैं\*\*\*कंस मारा गया, जरासंध चीर दिया गया, कास्यवन भस्म हो गया, शिशुपाल का सिर बटकर भूमि पर गिर गया\*\* ऐसे ही दुर्योधन भी नहीं रहेगा, कोई भी अन्यायी शक्ति मनुष्य के प्रयत्न के सम्मुख खड़ी नहीं रह पाएगी। प्रयत्न कभी निष्फल नहीं जाएगा, कभी नहीं, कभी नहीं\*\*\*

०००









जन्म : 6 जनवरी, 1940 (स्यालकोट)  
शिक्षा : पी-एच० डी० (हिन्दी)

प्राजीविका : मोतीलाल नेहरू कॉलेज,  
दिल्ली विश्वविद्यालय  
नई दिल्ली में अध्यापन

कृतियां : उपन्यास—पुनरारंभ, आतंक, साथ  
सहा गया दुख, दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर,  
युद्ध, मेरा अपना संसार, जंगल की कहानी।  
व्यंग्य—पांचएक्सडॉ उपन्यास, एक आश्रितों  
का विद्रोह, जगाने का अपराध, आधुनिक लडकी  
की पीड़ा, एक और लाल तिकोन, मेरी श्रेष्ठ  
व्यंग्य रचनाएँ।

कहानियाँ—परिणति, कहानी का अभाव,  
दृष्टि देश में एकाएक।

नाटक—शंभूक की हत्या।

वाल-साहित्य—गणित का प्रश्न।

समीक्षा-शोध—हिन्दी उपन्यास : सृजन और  
सिद्धान्त, प्रमचंद, प्रेमचंद के साहित्य-सिद्धान्त,  
कुछ प्रसिद्ध कहानियों के विषय में।